हिन्दी गद्य-मंजरी

रामप्रसाद किचलू, एम० ए०

हिन्दी गद्य-मंजरी

अर्थात्

हिन्दी के गद्य-निबन्धों का संग्रह

(हाई स्कूल कक्षाओं के लिए)

संकलनकर्त्ता व सम्पादक

रामप्रसाद किचलू, एम० ए०, एल० टी०, पी० एस०

(भूतपूर्व प्रिंसिपल गवर्नमेंन्ट इंटर कालिज, फैज़ाबाद)

रजिस्ट्रार, डिपार्टमेंटल परीक्षाएँ यू० पी०

—:※:—

प्रकाशक

रामनारायण लाल

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

इलाहाबाद

प्रकाशक
रामनारायण लाल
प्रयाग

५ म ८५५
त्रयोदशम संस्करण
मूल्य १॥)

मुद्रक
केसरवानी प्रेस,
प्रयाग

भूमिका

शिक्षा-विभाग के दीर्घ-काल में जिन कठिनाइयों को मैंने स्वयं समझा है, उन्हें ध्यान में रखकर ही संकलन को प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। पाठों का चुनाव करते समय यू० पी० इन्टरमीडिएट बोर्ड की पाठ्य सम्बन्धी विज्ञप्ति का भी पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। इस छोटे से संग्रह के अंतर्गत विभिन्न शैलियों के प्रतिनिधित्व के साथ पाठ्य-विषयों के नानात्व का सामंजस्य, नैतिकता, आशावादिता, चरित्र-संगठन आदि गुणों को ध्यान में रखते हुए सामान जुटाना सरल काम नहीं। फिर भी पाठ-चयन में सतर्कता और सावधानी से काम लिया है।

इस संकलन में जहां एक ओर शैलीकारों की दृष्टि से आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पण्डित पद्मसिंह शर्मा, श्री मिश्रबन्धु, श्री गुलाबराय, डा० श्यामसुन्दर दास, श्रीमती महादेवी वर्मा, पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि विभिन्न शैलियों के प्रतिनिधि के रूप में आये हैं, वहाँ दूसरी ओर माननीय सम्पूर्णानन्द और श्री काका कालेलकर अपनी ओजस्विनी शैली के साथ एक दूसरे ही वर्ग की झलक देते हैं। प्रारम्भिक गद्य-लेखकों में हिन्दी गद्य के ऐडिसन और स्टील—पंडित प्रताप नारायण मिश्र और पडित बालकृष्ण भट्ट—को भी संकलन में यथास्थान दिया गया है। गद्य-गीत काव्य के दो प्रमुख लेखक—श्री राय कृष्णदास और श्री वियोगी हरि—अपने पृथक् रूप में अपनाये गये हैं। इसी प्रकार कहानी साहित्य के विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करने के लिए प्रेमचन्द, प्रसाद और सुदर्शन [illegible] कलाकारों को ही स्थान दिया गया है।

विभिन्न शैलियों का ध्यान रखते हुए विषयों की अनेकरूपता को भी निभाया गया है। पाठ्य विषयों में साधारण नीति और सदाचार से संबंध

रखने वाले, मनोरंजन के साथ शिक्षा देने वाले, साम्प्रदायिकता के भेद-भाव को दूर करने वाले तथा वैज्ञानिक निबन्ध रखे गये हैं। प्रारम्भ का "वन्देमातरम्" भ्रातृत्व का संदेश देने वाला है और "शिक्षा" आदर्श नागरिक का साँचा प्रस्तुत करता है। "अँगूठी" जैसा छोटा विषय बड़ी रोचकता के साथ साहित्यिक रूप में है। इसी प्रकार कहानियां केवल कहानियों के उद्देश्य से नहीं हैं—प्रेमचन्द की "क्षमा" साम्प्रदायिकता के विष को दूर करने वाली है, "सच्ची शांति" कर्तव्यनिष्ठा का पाठ पढ़ाती है और "मधूलिका" राष्ट्रीयता का प्रतीक है। 'पेनसिलिन' जैसा आधुनिकतम आविष्कार अपना अलग ही आकर्षण रखता है। श्रीमती महादेवी वर्मा का बदरीनाथ का रेखा-चित्र भी अनुपम है।

इतना होते हुए भी यह कहना कठिन है कि विद्यार्थी इसे अपने जीवन के साथ कितना घुला-मिला सकेंगे, क्योंकि यह काम शिक्षार्थी का नहीं वरन् आदर्श शिक्षक का है। पाठ रीति झांझ की झंकार है, यदि शिक्षक ने अपनी योग्यता और तत्परता से विद्यार्थियों की जीवन ज्योति जगाने में इसका ठीक ढंग से सदुपयोग न किया। ऐसी पढ़ाई से लाभ ही क्या जिससे वयस्क बालकों के मानसिक और अंतर्जगत में मातृ-भाषा, राष्ट्र, जाति और चरित्र-निर्माण का पूरा-पूरा महत्व अंकित न हो सके। निश्चय ही अध्यापक इस पुनीत अनुष्ठान के पुरोहित हैं। उनके इस यज्ञ में यह संग्रह कहाँ तक सहायक होगा, नहीं कहा जा सकता।

संग्रह में मेरा अपना कुछ नहीं। अनेक कलाकारों की अनमोल कृतियों को सजा भर दिया है। मञ्जरी के अंतर्गत जो कृतियां सौरभ बिखर रही हैं इसके लिए इन पंक्तियों का लेखक हृदय से कृतज्ञ है और आशान्वित है कि विद्यार्थीगण सौरभ से बिना प्रभावित हुए न रह सकेंगे।

टैगोर टाऊन,
प्रयाग

विनीत
रामप्रसाद किचलू

विषय-सूची

गद्य-मंजरी

१—वन्दे मातरम्

[लेखक—काका कालेलकर]

काका कालेलकर एक महाराष्ट्रीय सज्जन हैं। आप का पूरा नाम दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर है, परन्तु आप काका कालेलकर नाम से प्रसिद्ध हैं। आपने पूना फर्ग्यूसन कालेज में शिक्षा प्राप्त की है। अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् आप गुजरात चले गये और वहीं बस गये। आप अब पूर्ण गुजराती हैं और गुजराती में ही लेख इत्यादि लिखते हैं। आपके निबन्ध विचार की दृष्टि से अत्यन्त उच्चकोटि के एवं मौलिक होते हैं। उसमें मानव-जीवन को ऊँचा उठाने की पर्याप्त सामग्री रहती है। गुजरात में आपकी गणना प्रथम श्रेणी के विचारकों में की जाती है।

हिन्दी में आपके कुछ लेखों का अनुवाद श्री निवासाचार्य द्विवेदी जी ने किया है, जो 'सस्ता साहित्य मण्डल' द्वारा प्रकाशित 'जीवन-साहित्य' नामक पुस्तक में संग्रहीत हैं। प्रस्तुत 'वन्दे मातरम्' लेख उसी 'जीवन-साहित्य' पुस्तक के द्वितीय भाग से उद्धृत किया गया है।

हमने छोटेपन में पंचायत स्तोत्र सीखे थे। उनमें माता जी के स्तोत्रारंभ में जब प्रथम मन्त्र 'नमो देव्यै' वाले श्लोक आते थे, तब हमारे मन में आदर और भय उत्पन्न होता था।

स्वदेशी की हलचल चली और नया मंत्र आकर कान में टकराया 'वन्दे मातरम्'। दोनों का भाव तो एक ही है, किन्तु चित्त में मूर्ति न्यारी ही खड़ी हुई। वन्दे मातरम् के साथ ही माता के उपकार-संबंधिनी बचपन में पढ़ी हुई कविता स्मरण आने लगी। माँ खाने की चीज पास में लेकर बैठी है एक बालक आता है, दूसरा पीछे की ओर से आकर गले में लिपटता है, तीसरा साड़ी का आँचल पकड़ कर खींचता है, एक बालिका माता के लम्बे किए हुए पैर पर आसन जमाकर बैठी है, और दो-चार बच्चे माँ के मना करने पर भी उसकी परवाह न करके माता से दूर भागते हैं, और एक-दूसरे के साथ लड़ते हैं; इस तरह का चित्र चित्त में खड़ा रहता था।

इतने में बंगाल से राष्ट्रगीत आया—

सुजलाम्, सुफलाम्, मलयज-शीतलाम्
सप्तकोटि-कंठ कल-कल निनाद-कराले
बहुबल धारिणीम्, रिपुदल वारिणीम्

'नमो देव्यै' वाली अष्ट भुजा 'महिषासुर मर्दिनी' के समान ही यह चित्र था। केवल महिषासुर के बदले हमारे सामने दीखने वाले मनुष्य-रिपु-दल का संहार करने वाली वह माता थी।

पाश्चात्य देशाभिमान की कल्पनाएँ ज्यों-ज्यों मन में बैठती गईं, त्यों-त्यों माता की मूर्ति अधिकाधिक उग्र होने लगी। माता के शरीर पर के आभूषण कम होने लगे। माता का वस्त्र लगभग फटा हुआ दीखने लगा। माता मेरा रक्षण करने वाली है, बचपन का यह भाव उड़ गया और मुझे माता का रक्षण करना चाहिए, इस तरह का प्रौढ़ किन्तु अभिमानी भाव चित्त में आने लगा और माता की करुण-दृष्टि से शत्रु से बदला लेने की प्रेरणा मिलने लगी।

आज वह मूर्ति कहाँ गई ? वह अष्ट भुजा महिषासुर-मर्दिनी भी ध्यान में नहीं आती, और न वह रिपु-दल वारिणी दशप्रहरण धारिणी माता ही रही। आज तो 'आसेतु हिमाचल' विछी हुई सुजला, सुफला और मलयज शीतला माता का मानचित्र दृष्टि के सन्मुख खड़ा होता है। यह माता सुजला है, परन्तु बालकों को उस जल के लिये कर देना पड़ता है, सुफला है, किन्तु वे फल माता के बालकों को नहीं मिलते; और उस 'शीतल मलयज' में प्लेग, इन्फ्ल्युएंजा के असंख्य जन्तु क्षुधातुर होकर इधर-उधर दौड़ते और वृद्धि पाते दिखाई देते हैं। आँसुओं के जल से इस माता के चरण धोने को जी चाहता है। शरीर अर्पण करके इस माता की सेवा करने की आज प्रेरणा होती है। सम्पूर्ण देह की आज धूप बना कर सर्वत्र शीतल मलयज फैलाने को चित्त चाहता है। 'जाह्नवी यमुना विगलित-करुणा-पुण्य पीयूष' से माता नया ही ख्याल देती है। माता कहती है, तुम मुझे अनेक नामों से सम्बोधित करते हो, पर मुझे तो 'माता' नाम ही प्रिय है। क्योंकि माता शब्द में मेरे बालकों का समावेश होता है। देवी कह कर तुम मेरे प्रकाश और प्रताप का स्मरण करते हो, बहुबल धारिणी कह कर तुम मेरा अभिमान धारण करते हो, परन्तु माता कहकर तुम मेरे सभी बच्चों का प्रेम प्राप्त करते हो। 'वन्दे मातरम्' इस वचन में जितनी मातृ-भक्ति है उतना ही भ्रातृ-प्रेम है, भगिनी-प्रेम है। तुम मेरी क्या सेवा कर सकते हो ? भाई-भाई सुख से रहो, एक दूसरे की सहायता करो, एवं एक दूसरे के सुख-दुख से सुखी और दुखी होओ। बस, इतने ही में मुझे सब कुछ मिल गया। यही मेरी श्रेष्ठ पूजा है। वन्दे मातरम् का अर्थ है 'सेवे भ्रातरम्'। तुम इतना समझ जाओगे तो मेरा वरद-हस्त तुम्हें सभी ज्ञान देगा। तुम देख सकोगे और जान जाओगे कि मैं अकेली ही माता हूँ। मेरा स्वरूप गूढ़ और विशाल है। तुम जितने

बालक दिखाई पड़ रहे हो सब मेरी ही संतान हो; तुम सब सहोदर हो।

अन्त में वन्दे मातरम् मन्त्र को प्रथम बार सुन कर जिस मूर्ति का दर्शन हुआ था, वही सच्चा है और माता को प्रिय है। हाँ, पर वह चित्र आदर्श तभी होगा जब सभी बालक माता को पहचानेंगे और सहोदर धर्म का पालन करेंगे।

अभ्यास के लिये

१—'वन्दे मातरम्' के पूरे गीत को पढ़िये और उसका अर्थ समझिये।

२—'वन्दे मातरम्' गीत की महत्ता बतलाइये।

३—काका कालेलकर के सामने पहले माता की कौन-सी मूर्ति थी?

४—'वन्दे मातरम्' मन्त्र ने इस मूर्ति में क्या परिवर्तन कर दिया?

५—इस पाठ से आपको कौन-सी शिक्षा मिली है?

६—इस पाठ के लेखक का एक संक्षिप्त परिचय लिखिये।

२—शिक्षा

[लेखक—माननीय श्री सम्पूर्णानन्द]

हिन्दी-प्रेमी कांग्रेसी-कार्य-कर्त्ताओं में माननीय श्री सम्पूर्णानन्द जी का स्थान अत्यन्त गौरवपूर्ण है। आपने बनारस 'क्वींस कालेज' से बी०एस-सी० पास कर, 'प्रयाग ट्रेनिङ्ग-कालेज' से एल० टी० परीक्षा उत्तीर्ण की। तत्पश्चात् अध्यापक के रूप में आपने अपना जीवन प्रारम्भ किया, और 'प्रेम महा-विद्यालय, वृन्दावन,' 'हरिश्चन्द्र हाई स्कूल, बनारस' 'डूँगर कालेज, बीकानेर' और 'राजकुमार-कालेज, इन्दौर,' प्रभृति संस्थाओं में अध्यापन कार्य किया। काशी विद्यापीठ में भी आप कई वर्ष तक शिक्षक का कार्य करते रहे हैं।

आप कांग्रेस के एक प्रसिद्ध नेता हैं, और राष्ट्रीय आन्दोलनों में कई बार जेल भी जा चुके हैं। अखिल भारतीय कांग्रेस कार्यकारिणी के आप क्रियाशील सदस्य तथा प्रांतीय-कमेटी के कई बार आप मन्त्री भी रह चुके हैं। समाजवाद के सिद्धांतों के आप पूर्ण पंडित हैं। 'समाजवाद' नामक पुस्तक पर आपको १२०० रुपये का 'मङ्गला प्रसाद पारितोषिक' भी प्राप्त हो चुका है। बम्बई अधिवेशन के अखिल भारतीय समाजवादी सम्मेलन के आप सभापति भी चुने गये थे। सन् १९३८ में जब कांग्रेस मन्त्रि-मण्डल बना तो आपको शिक्षा-मन्त्री का गौरवपूर्ण पद दिया गया जिसे आपने बड़ी योग्यता से निभाया। इधर पुनः कांग्रेस के मन्त्रि-मंडल बनने पर आप फिर शिक्षा-सचिव बनाये गये; कुछ दिन आपने अर्थ-मन्त्री के पद को भी सँभाला आपने कुछ समय गृह तथा श्रम विभागों के मन्त्री रहे। और अब मुख्य मन्त्री हैं।

आपका राजनीतिक और साहित्यिक जीवन घुला-मिला है। राजनीति दर्शन और शिक्षा सम्बन्धी आप कई सुन्दर ग्रन्थ लिख चुके हैं। सन् १९४० ई० में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के २९वें अधिवेशन में आप सभापति का आसन भी ग्रहण कर चुके हैं। 'समाजवाद', 'अन्तर्राष्ट्रीय विधान', 'ब्राह्मण सावधान', 'गणेश', 'चिद्विलास' और 'भाषा की शक्ति' आदि आपकी प्रमुख पुस्तकें हैं।

प्रस्तुत 'शिक्षा' पाठ 'चिद्विलास' से उद्धृत किया गया है।

समाज का सम्यक् संचालन तभी हो सकता है जब प्रत्येक नागरिक पर इसका दायित्व हो। जो समाज अपना भार थोड़े से व्यक्तियों के कन्धे पर डाल देता है उसको इस बात के लिये तैयार रहना चाहिए कि एक दिन उसके सारे अधिकार इन थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में चले जायँगे। फिर उसको अपनी खोयी सम्पत्ति को वापस लेने के लिये विकट लड़ाई करनी होगी। परन्तु नागरिक समाज का काम तभी सँभाल सकता

है, जब उसमें उसकी योग्यता हो और वह सामाजिक जीवन के लक्ष्य को समझता हो। यह बात शिक्षा पर निर्भर करती है।

शिक्षा का अर्थ व्यापक है। साधारणतः उसको बौद्धिक व्यायाम का समानार्थक मान लिया जाता है। छात्र को साहित्य, विज्ञान, इतिहास, राज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र जितने भी पाठ्य विषय हैं पढ़ा दिये जायँ और वह कुशल चिकित्सक या अध्यापक या इञ्जीनियर जैसा कुछ बना दिया जाय। समाज को ऐसे लोगों की बराबर आवश्यकता रहती है। यदि हर मनुष्य को उसकी योग्यता के अनुसार काम और हर काम के लिये कुशल मनुष्य मिल जायँ तो सभी सुखी और सम्पन्न रहें।

यह मत निराधार नहीं है। समाज को ऐसे लोगों की सदा आवश्यकता रहती है जो उसके अर्थ और काम का सम्पादन कर सकें। परन्तु यदि अर्थ और काम पर ही ध्यान दिया गया तो स्पर्धा ही उन्नति का साधन बन जायगी। सब की दृष्टि अपने ऊपर केन्द्रीभूत होगी, हितों का संघर्ष जारी रहेगा और समाज शान्ति के लिये तरसता रह जायगा।

हित-संघर्ष का कारण यही है कि सब अपने स्वार्थ, अपने अर्थ और काम को ढूँढ़ते हैं। किसी को किसी से द्वेष नहीं है। सबको अपने से राग है। एक अँधेरे कमरे में यदि दस मनुष्य बन्द कर दिये जायँ और सब बाहर निकलने का मार्ग ढूँढ़ रहे हों तो कई बार आपस में टकरा जायेंगे। किसी को किसी से बैर नहीं है पर सब केवल अपने लिये द्वार ढूँढ़ रहे हैं, इसी से टकराते हैं। एक दूसरे से लड़ने में शक्ति का अपव्यय होता है। वही मनुष्य यदि यह समझ ले कि सब का एक ही उद्देश्य है, तो उनकी सम्मिलित शक्ति का उपयोग हो सके। ऐसी दशा में यदि छुटकारे का द्वार न मिला तब भी लड़कर एक दूसरे की विपत्ति बढ़ायी तो

न जायगी। ठीक यही बात समाज में है। सब की यही दशा है। यदि यह समझ में आ जाय कि सब का हित एक ही है और वह सहयोग से प्राप्त हो सकता है तो आपस का द्वन्द्व बन्द हो जाय। सब को सुख-समृद्धि प्राप्त हो, कम से कम हम एक दूसरे के दुःख को बढ़ाने के साधन न बनें।

छात्रों की कोमल बुद्धि में यह बात आरम्भ से ही बैठानी चाहिये। चारों ओर सौन्दर्यमय वातावरण में प्रकृति-छटा और कलापूर्ण कृतियों के बीच में छात्र को जीवन बिताना चाहिये। बचपन से ही तप और त्याग का अभ्यास न पड़ा तो आगे चल कर कठिनाई होगी।

मनुष्य शरीर यों ही खो देने की वस्तु नहीं है। अपनी वासनाओं की तृप्ति तो पशु भी कर लेते हैं, परन्तु मनुष्य को अपने बहुज्ञ होने का गर्व है। उसको इस गर्व के अनुरूप अपना जीवन भी बनाना चाहिए। वासना का दमन मनुष्य की शोभा है, अपने को यथाशक्य दूसरों की सेवा में लगाना उसका आदर्श है। आत्म-साक्षात्कार उसके जीवन का प्रधान लक्ष्य है। शारीरिक बल या विद्या सांसिद्धिक बातें हैं, परन्तु इनकी प्राप्ति की कुछ सहज सीमायें भी हैं। दूसरे से विद्या या बल या वैभव में कम होना दुःख की बात हो, परन्तु लज्जा की नहीं है। अपने धर्म के पालन का प्रयत्न न करना, अर्थ और काम को धर्म से श्रेष्ठ मानना, मनुष्य के लिए लांछन है। यह भाव शिक्षा के द्वारा दृढ़ किया जाना चाहिये।

ऐसी शिक्षा पाया हुआ मनुष्य समाज का योग्य नागरिक होगा। सब धर्म-साक्षात्कर्ता नहीं हो सकते, परन्तु धर्म-मार्ग पर चलने की प्रवृत्ति सबकी होनी चाहिये। कोई विरला ही ब्रह्मवेत्ता होगा, थोड़े ही योगाभ्यासी होंगे, थोड़े ही पूर्णतया निष्काम, पूर्णतया यज्ञभाव से लोक संग्रह रत हो सकें, परन्तु भाव सब का परार्थ

को स्वार्थ से ऊँचा स्थान देंगे, प्राय: सब राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में सहयोग और सद्भाव के समर्थक होंगे।

ऐसी शिक्षा देना कठिन नहीं है। अभेद, एकता, जीव का स्वरूप है। अविद्या के कारण उसको नानात्व की, पार्थक्य की, प्रतीति है, परन्तु जब कभी थोड़ी देर के लिए भी वह पार्थक्य को भुला पाता है, एकत्व की झलक पा लेता है, तो उत्फुल्ल हो उठता है। नानात्व के बीच में भी वह अपने को ढूँढ़ता रहता है। इस लिये जो शिक्षा उसको एकत्व की ओर ले जायगी वह उसको ग्राह्य होगी।

ऐसी शिक्षा देना सब का काम नहीं है। साधारण पाठ्य विषयों के अध्यापक तो बहुत मिल सकते हैं, परन्तु विद्यार्थी को धर्म की शिक्षा देकर दूसरा जन्म देने की योग्यता रखने वाले आचार्य कम ही होते हैं। यह काम ब्रह्मबन्धु का नहीं ब्राह्मण का है। आचार्य छात्र के लिए तो पूज्य हैं ही, समाज का कर्त्तव्य है कि ऐसे व्यक्तियों का समादर करे और उनको निष्कंटक काम करने का अवसर दे।

अभ्यास के लिए

१—शिक्षा का वास्तविक अर्थ क्या है ? अच्छे नागरिक बनाने के लिए किस प्रकार की शिक्षा अपेक्षित है ?

२—अर्थ और काम को धर्म से श्रेष्ठ मानना मनुष्य के लिए लांछन क्यों है ?

३—ब्रह्मबन्धु और ब्राह्मण में लेखक के विचार से जो अन्तर है उसे स्पष्ट कीजिये।

४—इस पंक्ति के लेखक के विषय में आप जो कुछ जानते हों, संक्षेप में लिखिए।

३—परीक्षा

[लेखक—पं० प्रतापनारायण मिश्र]

पं० प्रतापनारायण मिश्र का जन्म सम्वत् १६१३ में उन्नाव के समीप बैजे ग्राम में हुआ था। आप भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के समसामयिक थे। आपको अंग्रेंजी, उर्दू, फारसी और संस्कृत का अच्छा ज्ञान था। आप कुशाग्र बुद्धि, हँसमुख एवं मनमौजी व्यक्ति थे। आपका लावनी-बाजों से भी सत्संग था और उनके प्रभाव से ही हिन्दी में कविता करने लगे। १० वर्ष तक घाटा उठाकर आप आठ आना वार्षिक मूल्य पर 'ब्राह्मण' नामक पत्र का सम्पादन करते रहे। 'हिन्दोस्तान' नामक पत्र का भी आपने कुछ काल तक सम्पादन किया। आपकी मृत्यु ३८ वर्ष की अल्पायु में सम्वत् १६५१ वि० में हुई थी।

मिश्र जी हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान के अनन्य भक्त थे। गद्य-पद्य दोनों के लेखक थे। आपने साधारण से भी साधारण विषयों पर बड़े ही रोचक निबन्ध लिखे हैं। आपके लेखों में चुटीला हास्य एवं व्यंग्य होता है और इसीलिए आप विदग्ध साहित्य के निर्माता कहे जाते हैं। आपकी भाषा साधारण बोलचाल की है—जिसमें ग्रामीण शब्दों, मुहावरों का बाहुल्य रहता है। आपकी भाषा और भट्ट जी की भाषा में बहुत अन्तर है। मिश्र जी की भाषा का रूप अपेक्षाकृत अशुद्ध, अस्थिर, ग्रामीण एवं व्याकरण की त्रुटियों से ओत-प्रोत है। उसमें विराम चिन्हों का बहुत ही कम प्रयोग किया गया है। आपने गद्य-पद्य एवं नाटकों की अनेक पुस्तकें बनाई हैं जिनमें हठी हमीर, आल्हा, भारत-दुर्दशा, मन की बहार, तृप्यंताम्, राज-सिंह और युगलांगुलीय अधिक प्रसिद्ध हैं। 'निबन्ध-नवनीत' आपके लेखों का एक सुन्दर संग्रह है। प्रस्तुत पाठ इसी पुस्तक से उद्धृत किया जा रहा है।

यह तीन अक्षर का शब्द ऐसा भयानक है कि त्रैलोक्य की बुरी बला इसी में भरी है। परमेश्वर न करे कि इनका सामना किसी को पड़े! महात्मा मसीह नें अपनें निज शिष्यों को एक प्रार्थना सिखाई थी, जिसको आज भी सब क्रिस्तान पढ़ते हैं, उसमें एक यह भी भाव है कि "हमें परीक्षा में मत डाल, वरंच बुराई से बचा।" परमेश्वर करे सबकी मुँदी भलमंसी चली जाय, नहीं तो उत्तम से उत्तम सोना भी जब परीक्षार्थ अग्नि पर रक्खा जाता है तो पहले काँप उठता है, फिर उसके यावत् परमाणु सब तितर-वितर हो जाते हैं। यदि कहीं कुछ खोट हुई तो जल ही जाता है, घट जाता है। जब जड़ पदार्थों की यह दशा है तब चैतन्यों का क्या कहना! हमारे पाठकों में कदाचित् ऐसा कोई न होगा जिसनें बाल्यावस्था में कहीं पढ़ा न हो। महाशय उन दिनों का स्मरण कीजिए, जब इम्तहान के थोड़े दिन रह जाते थे। क्या सोते, जागते, उठते, हर घड़ी एक चिन्ता चित्त पर चढ़ी रहती थी न? पहिले से अधिक परिश्रम करते थे तो भी दिन-रात देवो-देवता मनाते बीतता था। देखिये क्या हो, परमेश्वर कुशल करे। सच है, यह अवसर ही ऐसे हैं। परीक्षा में ठीक उतरना हर किसी के भाग्य में नहीं है!

जिन्हें हम आज बड़ा पंडित, धनी, बड़ा बली, महा देश-हितैषी, महासत्यसंघ, महानिष्कपट मित्र समझे बैठे हैं, यदि उनकी ठीक-ठीक परीक्षा करनें लगें तो कदाचित् फी सैकड़ा दो ही चार ऐसे निकलें जो सचमुच जैसे बनते हैं वैसे ही बने रहें? यदि महाजनों से कभी काम पड़ा हो तो आपको निश्चय होगा कि प्रकट जो धर्म, जो ईमानदारी, जो भलमंसी दीख पड़ती है वह गुप्तरूपेण के जनों में कहाँ तक है? जिन्हें यह विश्वास हो कि ईश्वर हमारे कामों की परीक्षा करता है, अथवा संसार में हमें परीक्षार्थ भेजा है उनके अन्तःकरण की गति पर हमें दया आती

है। हमने तो निश्चय कर लिया है कि परीक्षा-वरीक्षा का क्या काम है, हम जो कुछ हैं वह सर्वज्ञ सर्वान्तरयामी से छिपा नहीं है। हम पापात्मा, पाप-सम्भव भला उसके आगे परीक्षा में कै पल ठहरेंगे ?

संसार में संसारी जीव निस्सन्देह एक दूसरे की परीक्षा न करें तो काम न चले, पर उस काम के चलने में कठिनाई यह है कि मनुष्य की बुद्धि अल्प है, अतः प्रत्येक विषय का पूर्ण निश्चय सम्भव नहीं। न्याय यदि कोई वस्तु है तो, और यह बात यदि निस्सन्देह सत्य है कि निर्दोष अकेला ईश्वर है तो, हम यह भी कह सकते हैं कि जिसकी परीक्षा १०० वार कर लीजिये उसकी ओर से भी निस्सन्देह न वना रहना कुछ आश्चर्य नहीं है ! फिर इस वात को कौन कहेगा कि परीक्षा उलझन का विषय नहीं है। कपटी लोग ही वहुधा मिष्ट-भाषी और शिष्टाचारी होते हैं, थोड़े ही मूल्य की धातु में अधिक ठनठनाहट होती है, थोड़ी ही योग्यता में अधिक आडम्वर होता है, फिर यदि परीक्षक धोखा खा जाय तो क्या अचम्भा है। सब गुणों में पूरा अकेला परमात्मा है, अतः ठीक परीक्षा पर जिसकी कलई न खुल जाय उसी के धन्य भाग्य ! हमने भी स्वयं अनुभव किया है कि बरसों जिनके साथ वदनाम रहे, बीसियों हानियाँ सहीं, कई वार अपना सिर फुड़वाने को और प्राण देने या कारागार जाने को उद्यत हो गये, उनके दोष अपने ऊपर ले लिये और वे भी सदा हमारी बात पर अपना चुल्लू भर लोहू सुखाते रहे, जहाँ तेरा पसीना गिरेगा वहाँ हमारा मृत शरीर पहले गिर लेगा, पर जब समय आया कि गैरों के सामने हमारी इज्जत न रहे तो इन्हीं महाशयों ने आँख टेढ़ी कर ली।

❀ ❀ ❀

कहाँ तक कहें परीक्षा सब को खलती है! क्या ही अच्छा होता जो सब-के-सब बातों में सच्चे होते और जगत में परीक्षा का काम न पड़ा करता! वह बड़ भागी धन्य है जो अपनी जीवनयात्रा को यों ही समाप्त कर दे।

अभ्यास के लिये

१—परीक्षा शब्द क्यों भयानक है? परीक्षा से लोग क्यों डरते हैं?
२—कपटी लोग बहुधा मिष्ट-भाषी और शिष्टाचारी होते हैं—आप मिश्र जी के इस विचार से कहाँ तक सहमत हैं?
३—पं० प्रतापनरायण मिश्र का साहित्यिक परिचय दीजिये और उसकी गद्य-शैली पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

४—चारु-चरित्र

[लेखक—पं० बालकृष्ण भट्ट]

हिन्दी गद्य-निर्माताओं में पंडित बालकृष्ण भट्ट का स्थान विशेष महत्व का है। प्रयाग में सं० १९०१ वि० में आपका जन्म हुआ और जीवन भर हिन्दी की सेवा कर सं० १९७१ वि० में आप परलोक सिधारे! आपको हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, फारसी और अँग्रेजी का अच्छा ज्ञान था।

आरम्भ में आप जमुना-मिशन-स्कूल और कायस्थ पाठशाला में शिक्षक का कार्य करते रहे। बाद में आपका मुख्य व्यवसाय हिन्दी-सेवा और साहित्य-निर्माण हो गया। प्रयाग से प्रकाशित होने वाले 'हिन्दी-प्रदीप' का सम्पादन आपने कई वर्षों तक अनेक आर्थिक संकट झेल कर भी किया और इस पत्र द्वारा आपने हिन्दी की प्रशंसनीय सेवा की।

भट्ट जी ने साधारण एवं मननशील दोनों प्रकार के विषयों पर लेख लिखे हैं। साधारण विषयों (जैसे आँख, कान, नाक, बातचीत आदि) पर भी आपके लिखे हुए निबन्ध अत्यन्त विचारपूर्ण, रोचक एवं सप्रमाण हैं। गाम्भीर्य एवं हास्य का उनमें अच्छा सम्मिश्रण रहता है। भट्ट जी के विचार भाषा के सम्बन्ध में बड़े उदार थे। भाषा को व्यापक बनाने के लिये आपने हिन्दी के बोल-चाल के शब्दों के अतिरिक्त उर्दू व अँग्रेजी के व्यावहारिक शब्दों का भी निस्संकोच प्रयोग किया है। आपकी शैली में व्यक्तित्व की छाप है। समसामयिक पं० प्रतापनारायण मिश्र की अपेक्षा आपकी भाषा अधिक शिष्ट, नागरिक, परिष्कृत और सजीव है। उसमें ग्रामीणता का दोष नहीं है। मुहाविरों का सुन्दर प्रयोग है। आपने कुछ भावात्मक निबन्ध भी लिखे हैं। हिन्दी में गद्य-काव्य के जन्मदाता भी आप ही हैं। निबन्धों के अतिरिक्त आपने कहानियाँ (सौ अजान एक सुजान, नूतन ब्रह्मचारी), नाटक, प्रहसन और उपान्यास भी लिखे हैं। आपके लेख संग्रह 'साहित्य सुमन' और "भट्ट निबन्धावली" के नाम से प्रकाशित हुए हैं।

यह लेख आपकी 'साहित्य सुमन' पुस्तक से उद्धृत किया गया है।

मनुष्य के जीवन का महत्व जैसा चारु-चरित्र से सम्पादित होता है वैसा धन, पद, ऊँचे-ऊँचे दरजे की तालीम इत्यादि के द्वारा नहीं हो सकता। समाज में जैसा गौरव, जैसी प्रतिष्ठा या इज्जत, जैसा जोर लोगों के वीच में शुद्ध चरित्र वाले का होता है, वैसा वड़े से वड़े धनी और ऊँचे से ऊँचे ओहदे वाले का कहाँ ? धनवान् या विद्वान् को जो प्रतिष्ठा दी जाती है या सर्व-साधारण में जो यश या नामवरी उसकी होती है, उसकी स्पर्धा सबको होती है। कौन ऐसा होगा, जो अपने वैभव, अपनी विद्या

वा योग्यता से औरों को अपने नीचे रखने की इच्छा न करता हो ? शान्ति के एक-मात्र आधार चारु-चरित्र वाले में यह अलबत्ता नहीं देखा जाता। वह यह कभी नहीं चाहता कि चरित्र के पैमाने में अर्थात् चरित्र क्या है, इसकी नाप-जोख में दूसरा हमारे आगे न बढ़ने पावे।

कार्य-कारण का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस सूत्र के अनुसार देश या जाति का एक-एक व्यक्ति सम्पूर्ण देश या जाति के सभ्यता-रूप कार्य का कारण है अर्थात् जिस देश या जाति में एक-एक मनुष्य अलग-अलग अपने चरित्र के सुधार में लगे रहते हैं, बस समग्र देश का देश उन्नति की सीमा तक पहुँच, सभ्यता का एक बहुत अच्छा नमूना बन जाता है। नीचे से नीचे कुल में पैदा हुआ हो, बहुत पढ़ा-लिखा भी न हो, बड़ा सुभीते वाला भी न हो, किसी तरह की कोई असाधारण बात भी उसमें न हो, किन्तु चरित्र की कसौटी में यदि वह अच्छी तरह कस लिया गया है, तो उस आदरणीय मनुष्य का संभ्रम और आदर समाज में कौन ऐसा कम्बख्त होगा, जो न करेगा। और ईर्ष्यावश उसके महत्व को मुक्तकण्ठ हो स्वीकार न करेगा। नीचे दरजे से ऊँचे पहुँचने के लिये चरित्र की कसौटी से बढ़कर और कोई दूसरा जरिया नहीं है। चरित्रवान यद्यपि धीरे-धीरे बहुत देर में ऊपर को उठता है, पर यह निश्चित है कि चरित्र-पालन में जो सावधान है वह एक-न-एक दिन अवश्य समाज का अगुवा मान लिया जायगा। हमारे यहाँ के गोत्र-प्रवर्त्तक ऋषि, भिन्न-भिन्न मत या सम्प्रदायों के चलाने वाले आचार्य, नबी, अम्बियाँ, औलिया आदि सब इसी क्रम पर आरूढ़ रह, लाखों-करोड़ों मनुष्यों के 'गुरोर्गुरुः' देववत् माननीय-पूजनीय हुये, और कितने ही उनमें से ईश्वर के अंश और अवतार माने गये।

यों तो दियानतदारी, सत्य पर अटल विश्वास, शान्ति, कपट और कुटिलाई का अभाव आदि चरित्र-पालन के अनेक अंग हैं, किन्तु बुनियाद इन सब उत्तम गुणों की, जिस पर मनुष्य में चारु-चरित्र का पवित्र विशाल मन्दिर खड़ा हो सकता है, अपने सिद्धांतों का दृढ़ और पक्का होना है। जो जितना ही अपने सिद्धांतों का दृढ़ और पक्का है, वह उतना ही चरित्र को पवित्रता में श्रेष्ठ होगा। चरित्र की संपत्ति के लिये सिधाई तथा चित्त का अकुटिल भाव भी एक ऐसा बड़ा स्रोत है, जहाँ से विश्वास, अनुराग, दया मृदुता, सहानुभूति के सरस प्रवाह की अनेक धारायें बहती हैं। इनमें से किसी एक धारा में नियमपूर्वक स्नान करने वाला मनुष्य भलमनसाहत, सभ्यता, आभिजात्य या कुलीनता तथा शिष्टता का नमूना बन जाता है। क्योंकि चतुराई बिना चित्त की सिधाई के, ज्ञान या विद्या बिना विवेक या अनुष्ठान के नहीं आती। मनुष्य में एक प्रकार की शक्ति अथवा योग्यता अवश्य है, पर यह योग्यता उसकी वैसे हो है जैसे गिरह काटने वालों में जेब या गाँठ काट, रुपये निकाल लेने की योग्यता या चालाकी रही है।

आत्मगौरव भी चरित्र का प्रधान अंग है। सुचरित्र-सम्पन्न नीचा काम करने में सदा संकुचित रहता है। प्रतिक्षण उसे इसके लिये बड़ी चौकसी रखनो पड़ती है कि कहीं ऐसा काम न बन पड़े कि प्रतिष्ठा में हानि हो। उसका एक-एक काम और एक-एक शब्द सभ्य समाज में नेक-चलनी के सूत्र के समान प्रमाण में लिया जाता है। जिसके लिये उसने 'हाँ' कहा, फिर उसी के लिये उससे 'नहीं' कहलाना मनुष्य-मात्र की शक्ति के बाहर है। उत्कोच या किसी तरह लालच दिखलाकर उसके उसूल को बदलवा देना या दृढ़ सिद्धांतों से उसको अलग करना वैसा ही है, जैसा प्रकृति के नियमों को बदल देना है। यह कुछ अत्यन्त

आवश्यक नहीं है कि जो बड़े धनी या किसी बड़े ऊँचे ओहदे पर हैं, वे ही सच्ची शराफत या चोखी से चोखी सज्जनता अथवा नेक-चलनी के सूत्र (Standard) हों। अपितु गरीब तथा छोटा आदमी भी सज्जनता की कसौटी में अधिकतर चोखा और खरा निकल सकता है। किसी नें अच्छा कहा—

"अक्षीणो वित्ततः क्षीणः वृत्ततस्तु हतो हतः।"

अर्थात्—धन पास न होने से गरीब-गरीब नहीं है, वरन् जो सद्वृत्त नेक-चलनी से रहित है, वही गरीब है। धनी सब कुछ अपने पास रखकर भी सब भाँति हीन है; पर निर्धनी पास कुछ न रख कर भी यदि सद्वृत्त है तो सब भाँति भरा-पूरा है। उसे भय और नैराश्य कहीं से नहीं है। सद्वृत्ति-विहीन वित्तवान् को पग-पग में भय है। उसका भविष्य इतना धुँधला है कि जिसका धुँधलापन दूर करने के लिये कहीं आशा की चमक का नाम नहीं है। दैववश जिसका सब कुछ नष्ट हो गया, पर धैर्य, चित्त की प्रसन्नता, आशा, धर्म पर दृढ़ता आत्म-गौरव और सत्य पर अटल विश्वास बना है, उसका मानों सब बना है, कहीं पर किसी अंश में वह दरिद्र नहीं कहा जा सकता।

एक बुद्धिमान नें इन बातों को पवित्र चरित्र का मुख्य अंग निश्चय किया है—लम्पटता अर्थात् छलकपट का न होना, रुपये-पैसे के लेन-देन में सफाई, बात का धनी और अपने वादे का सच्चा होना, आश्रितों पर दया, मेहनत से न हटना, अपने निज पौरुष और परिश्रम पर भरोसा रखना, अविकत्थन अर्थात् अपने को बढ़ा कर न कहना—इनमें से एक-एक गुण ऐसे हैं, जिन पर किताबों पर किताबें लिखी जा सकती हैं। चारु-चरित्र का एक संक्षेप विवरण हमनें कह सुनाया। जिस भाग्यवान में चरित्र के

पूर्ण अंग हैं उसका क्या कहना ! वह तो मनुष्य के तन में साक्षात् देवता या जीवनमुक्त कोई योगी है। जिन बातों से हमारे में चरित्र आता है, उसकी दो-एक बात भी जिसमें हैं, वह धन्य और प्रशंसा के योग्य है। हमारे नव-युवकों को चरित्र-पालन में विशेष प्रवण-चित्त होना चाहिये। ऊँचे दरजे की शिक्षा बिना चरित्र सर्वथा निरर्थक है। चरित्र-सम्पन्न साधारण शिक्षा रख कर जितना उपकार देश या जाति का कर सकता है उतना सुशिक्षित, पर चरित्र का छूछा नहीं कर सकता।

अभ्यास के लिये

१—चारु-चरित्र का क्या अर्थ है और उसका मनुष्य के जीवन में क्या महत्व है ?

२—चरित्र-पालन के कौन कौन प्रधान अंग हैं ?

३—'धनी सब कुछ अपने पास रखकर भी सब भाँति-हीन है, पर निर्धनी पास कुछ न रखकर भी यदि सद्वृत्त है, तो सब भाँति भरा-पूरा है।' कैसे ?

४—'चरित्र-सम्पन्न साधारण शिक्षा रखकर जितना उपकार देश या जाति का कर सकता है उतना सुशिक्षित, पर चरित्र का छूछा नहीं कर सकता।' इस कथन से आप कहां तक सहमत हैं ?

५—पंडित बालकृष्ण भट्ट की गद्य-शैली पर अपने विचार प्रकट कीजिये और पंडित प्रतापनारायण मिश्र की शैली से उसकी तुलना कीजिये।

६—निम्नांकित शब्दों और मुहावरों के अर्थ लिखिये और उन्हें वाक्यों में संयुक्त कीजिये—

संभ्रम, उत्कोच, जीवनमुक्त, प्रवण-चित्त, अविकथन, अगुआ मान लेना, मुक्त कण्ठ से स्वीकार करना, नमूना बन जाना।

५—क्षमा

[लेखक—श्री प्रेमचन्द]

उपन्यास-सम्राट् श्री प्रेमचन्द का जन्म बनारस जिले में पांडेपुर नामक ग्राम में सं० १९३७ में हुआ था। बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण होने के उपरान्त आप सब-डिप्टी इन्सपेक्टर तथा नार्मल स्कूल में अध्यापक का कार्य करते रहे। कुछ समय के उपरान्त आप साहित्य-सेवा में लग गए। उदारता के कारण आपको सदैव आर्थिक संकट रहा। जीवन के अन्तिम दिनों में आपने व्यवसायी फिल्म कम्पनियों में कहानी-लेखक का काम किया, परन्तु इससे आपको सन्तोष न हुआ। आप इस काम को छोड़ कर काशी में 'हंस' नामक एक मासिक-पत्र निकालने लगे और अपना प्रकाशन कार्यालय भी आपने खोल लिया।

प्रेमचन्द जी ने हिन्दी में मौलिक उपन्यास तथा कहानियाँ लिखकर हिन्दी के मस्तक को उच्च तथा उज्ज्वल किया है। आप ही ने हिन्दी कथा साहित्य में मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से चरित्र-चित्रण प्रारम्भ किया। आपकी कहानी तथा उपन्यासों के सभी अवयव प्रौढ़ तथा सुसंगठित होते हैं। अतः प्रकृति के विश्लेषण करने में आप बड़े ही पटु हैं। आपकी कला यथार्थवाद को लेकर चली है और इसमें कल्पना तथा चमत्कार का अंश बहुत कम रहता है। दीन, दलित तथा निर्धन आपकी दया के पात्र हैं और इनका वर्णन करते समय आपकी लेखनी में बड़ी शक्ति आ जाती है। आपकी कहानियों और उपन्यासों का बहुत प्रचार हुआ है तथा दूसरी भाषाओं में भी इनके अनुवाद हो रहे हैं। आपने 'कर्बला'

नाम का एक नाटक भी लिखा है, परन्तु नाटककार के रूप में आप उतने सफल नहीं हुए। प्रेमद्वादशी, सप्तसुमन; सप्तसरोज, प्रेमपूर्णिमा, नवनिधि, प्रेम-पचीसी आदि आपके प्रसिद्ध कहानी संग्रह हैं। उपन्यासों में सेवा-सदन, प्रेमाश्रम, रङ्ग-भूमि, काया-कल्प, निर्मला, कर्मभूमि, गबन, गोदान आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्रेमचन्द जी ने बोल-चल की भाषा में लिखा है। मुहावरों के प्रयोग ने आपकी भाषा को बड़ा ही रोचक तथा प्रभावशाली बना दिया है। आपकी भाषा में सभी भाषाओं के प्रचलित शब्दों का मेल है। आपकी शैली पर उर्दू का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

मुसलमानों को स्पेन देश में राज्य करते कई शताब्दियाँ बीत चुकी थीं। कलीसाओं की जगह मस्जिदें बनती जाती थीं, घन्टों की जगह आजान की आवाजें सुनाई देती थीं। गरनाता और अलहमरा में समय की नश्वर गति पर हँसने वाले वे प्रासाद बन चुके थे, जिनके खँडहर अब तक देखने वालों को अपने पूर्व ऐश्वर्य की झलक दिखाते हैं। ईसाइयों के गण्यमान स्त्री और पुरुष मसीह की शरण छोड़कर इस्लामी भ्रातृत्व में सम्मिलित होते जाते थे और आज तक इतिहासकारों का यह आश्चर्य है कि ईसाइयों का मिशन वहाँ क्योंकर बाकी रहा। जो ईसाई नेता अब तक मुसलमानों के सामने सिर न झुकाते और अपने देश में स्वराज्य स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे, उनमें एक सौदागर दाऊद भी था। दाऊद विद्वान् और साहसी भी था। वह अपने इलाके में कदम न जमने देता था। दीन और निर्धन ईसाई विद्रोही देश के अन्य प्रान्तों से आकर उसके शरणागत होते थे। वह बड़ी उदारता से उनका पालन-पोषण करता था। मुसलमान उससे सशंक रहते थे। वे धर्म-बल से उस पर विजय न पाकर उसे शस्त्र-बल से परास्त करना चाहते थे। पर दाऊद

उनका सामना न करता था। हाँ ! जहाँ कहीं ईसाइयों के मुसल-मान होने की खबर पाता, वहाँ हवा की तरह पहुँच जाता और तर्क या विनय से उन्हें अपने धर्म पर अटल रहने की प्रेरणा करता था। अन्त में मुसलमानों ने चारों तरफ से घेर कर गिरफ्तार करने की तैयारी की। सेनाओं ने उसके इलाके को घेर लिया। दाऊद को प्राण-रक्षा के लिये अपने सम्बन्धियों के साथ भागना पड़ा। वह घर से भाग गरनाता में आया जहाँ उन दिनों इस्लामी राजधानी थी। वहाँ सब से अलग रह कर वह अच्छे दिनों की प्रतीक्षा में जीवन व्यतीत करने लगा। मुसलमानों के गुप्तचर उसका पता लगाने के लिये बहुत सिर मारते थे, उसे पकड़ लाने के लिये बड़े-बड़े इनामों की विज्ञप्ति निकाली जाती थी, पर दाऊद की टोह न लगती थी।

[२]

एक दिन एकान्तवास से उकता कर दाऊद गरनाता के एक बाग में सैर करने चला गया। संध्या हो गई थी। मुसलमान नीचे एबाए पहने बड़े-बड़े आमामे सिर पर बाँध कमर से तल-वार लटकाए, रविशों में टहल रहे थे। स्त्रियाँ सफेद बुर्के ओढ़े, जरी की जूतियाँ पहने बेंचों और कुर्सियों पर बैठी हुई थीं। दाऊद सब से अलग हरी-हरी घास पर लेटा हुआ सोच रहा था कि वह दिन कब आयेगा, जब हमारी जन्मभूमि इन अत्या-चारियों के पंजे से छूटेगी। वह अतीत काल की कल्पना कर रहा था, जब ईसाई स्त्री-पुरुष इन रविशों पर टहलते होंगे, जब यह स्थान ईसाइयों के परस्पर वार्तालाप से गुलजार होगा।

सहसा एक मुसलमान युवक आकर दाऊद के पास बैठ गया। वह इसे सिर से पाँव तक अपमान-सूचक दृष्टि से देख-कर बोला

क्या अभी तक तुम्हारा दिल इस्लाम की ज्योति से प्रकाशित नहीं हुआ ?

दाऊद नें गम्भीर भाव से कहा—इस्लाम की ज्योति पर्वत शृङ्गों को प्रकाशित कर सकती है। अँधेरी घाटियों में उसका प्रवेश नहीं हो सकता।

उस मुसलमान अरबी का नाम जमाल था। यह आक्षेप सुन कर वह तीखे स्वर में बोला—इससे तुम्हारा क्या मतलब है ?

दाऊद—इससे मेरा मतलब यही है कि ईसाइयों में जो उच्च श्रेणी के हैं, वे जागीरों और राज्याधिकारों के लोभ तथा राज-दंड के भय से इस्लाम की शरण में आ सकते हैं, पर दुर्बल और दीन ईसाइयों के लिये इस्लाम में वह आसमान की बाद-शाहत कहाँ है, जो हजरत मसीह के दामन में उन्हें नसीब होगी। इस्लाम का प्रचार तलवार के बल से हुआ है, सेवा के बल से नहीं।

जमाल अपनें धर्म का अपमान सुनकर तिलमिला उठा। गरम होकर बोला—यह सर्वथा मिथ्या है। इस्लाम की शक्ति उसका आन्तरिक भ्रातृत्व और साम्य है, तलवार नहीं।

दाऊद—इस्लाम ने धर्म के नाम पर जितना रक्त बहाया है, उसमें उसकी सारी शक्ति डूब जायगी।

जमाल—तलवार ने सदा सत्य की रक्षा की है।

दाऊद ने अविचलित भाव से कहा—जिसको तलवार का आश्रय लेना पड़े, वह सत्य ही नहीं है।

जमाल जातीय गर्व से उन्मत्त होकर बोला—जब तक मिथ्या के भक्त रहेंगे तब तक तलवार की जरूरत भी रहेगी।

दाऊद—तलवार का मुँह ताकने वाला सत्य ही मिथ्या है। अरब ने तलवार के कब्जे में हाथ रख कर कहा—खुदा की कसम

अगर तुम निहत्थे न होते, तो तुम्हें इस्लाम की तौहीनी करने का मजा चखा देता।

दाऊद ने अपनी छाती में छिपाई कटार निकाल कर कहा—नहीं। मैं निहत्था नहीं हूँ, मुसलमानों पर जिस दिन इतना विश्वास करूँगा, उस दिन ईसाई न रहूँगा, तुम अपने दिल के अरमान निकाल लो।

दोनों ने तलवारें खींच लीं। एक दूसरे पर टूट पड़े। अरब की भारी तलवार ईसाई की हल्की कटार के सामने शिथिल हो गई। एक सर्प की भाँति फन से चोट करती थी, दूसरी नागिन की भाँति उड़ती थी। एक लहरों की भाँति लपकती थी, दूसरी जल की मछलियों की भाँति चमकती थी। दोनों योद्धाओं में कुछ देर तक चोटें होती रहीं। सहसा एक बार नागिन उछल कर अरब के अंतस्तल में जा पहुँची। वह भूमि पर गिर पड़ा।

[३]

जमाल के गिरते ही चारों तरफ से लोग दौड़ पड़े। वे दाऊद को घेरने की चेष्टा करने लगे। दाऊद ने देखा लोग तलवार लिये दौड़े चले आ रहे हैं। प्राण लेकर भागा। पर जिधर जाता था, सामने की दीवार रास्ता रोक लेती थी। दीवार ऊँची थी, उसे फाँदना मुश्किल था। वह जीवन और मृत्यु का संग्राम था। कहीं शरण की आशा नहीं, कहीं छिपने का स्थान नहीं। उधर अरबों की रक्त-पिपासा प्रतिक्षण तीव्र होती जाती थी। यह केवल एक अपराधी को दण्ड देने की चेष्टा न थी, जातीय अपमान का बदला था। एक विजित ईसाई की यह हिम्मत कि अरब पर हाथ उठाये! ऐसा अनर्थ!

जिस तरह पीछा करने वाले कुत्तों के सामने गिलहरी इधर-उधर दौड़ती है, किसी वृक्ष पर चढ़ने की बार-बार चेष्टा करती है

पर हाँथ-पाँव फूल जाने के कारण बार-बार गिर पड़ती है, वही दशा दाऊद की थी।

दौड़ते-दौड़ते उसका दम फूल गया, पैर मन-मन भर के हो गये। कई बार जी में आया, इन सब पर टूट पड़े और जितने महँगे प्राण बिक सकें उतने महँगे बेचे, पर शत्रुओं की संख्या देखकर हतोत्सह हो जाता था।

लेना, दौड़ना, पकड़ना का शोर मचा हुआ था। कभी-कभी पीछा करने वाले इतने निकट आ जाते थे कि मालूम होता था, अब, संग्राम का अन्त हुआ, तलवार पड़ी। पर पैरों की एक ही गति थी। एक कावाँ, एक कन्नी उसे खून की प्यासी तलवारों से बाल-बाल बचा लेती थी।

दाऊद को अब इस संग्राम में खिलाड़ियों का सा आनन्द आने लगा। यह निश्चय था कि उसके प्राण नहीं बच सकते। मुसलमान दया करना नहीं जानते इसलिये उसे अपने दाँव-पेंच में मजा आ रहा था। किसी वार से बच कर उसे अब इसकी खुशी न होती थी कि उसके प्राण बच गये, बल्कि इसका आनन्द होता था कि कातिल को कैसा जिच किया था।

सहसा उसे अपनी दाहिनी ओर बाग की दीवार कुछ नीची नजर आई। आह ! यह देखते ही उसके पैरों में एक नई शक्ति का संचार हो गया, धमनियों में नया रक्त दौड़ने लगा। वह हिरन की तरह उस तरफ दौड़ा और एक छलांग में बाग के उस पर पहुँच गया। जिन्दगी और मौत में सिर्फ एक कदम का फासला था। पीछे मृत्यु थी और आगे जीवन का विस्तृत क्षेत्र। जहाँ तक दृष्टि जाती थी झाड़ियाँ ही नजर आती थीं, जमीन पथरीली थी—कहीं ऊँची, कहीं नीची। जगह-जगह पत्थर की शिलायें पड़ी हुई थीं। दाऊद एक शिला के नीचे छिप कर बैठ गया।

दम भर में पीछा करने वाले भी वहाँ आ पहुँचे और इधर उधर झाड़ियों में, वृक्षों पर, गड्ढों में, शिलाओं के नीचे तलाश करने लगे। एक अरब उस चट्टान पर आकर खड़ा हो गया, जिसके नीचे दाऊद छिपा हुआ था। दाऊद का कलेजा धक-धक कर रहा था। अब जान गई, अरब ने जरा नीचे को झाँका और प्राणों का अन्त हुआ। संयोग—केवल संयोग पर अब दाऊद का जीवन निर्भर था। दाऊद ने साँस रोक ली, सन्नाटा खींच लिया एक निगाह पर उसकी जिन्दगी का फैसला था। जिन्दगी और मौत में कितना सामीप्य है !

मगर अरबों को इतना अवकाश कहाँ था कि वे सावधान होकर शिला के नीचे देखते। वहाँ तो हत्यारे को पकड़ने की जल्दी थी। दाऊद के सिर से बला टल गई। वे इधर-उधर ताक-झाँक कर आगे बढ़ गये।

[४]

अँधेरा हो गया। आकाश में तारागण निकल आये और तारों के साथ दाऊद भी शिला के नीचे से निकला। देखा तो उस समय भी चारों तरफ हलचल मची हुई है, शत्रुओं का दल मशालें लिये झाड़ियों में घूम रहा है, नाकों पर भी पहरा है। कहीं निकल भागने का रास्ता नहीं है। दाऊद एक वृक्ष के नीचे खड़ा होकर सोचने लगा कि अब क्योंकर जान बचे। उसे अपनी जान की वैसी परवाह न थी। वह जीवन के सुख-दुख सब भोग चुका था। अगर उसे जीवन की लालसा थी, तो केवल यही देखने के लिये कि इस संग्राम का अन्त क्या होगा। मेरे देशवासी हतोत्साह हो जायेंगे या अदम्य धैर्य के साथ संग्राम क्षेत्र में अटल रहेंगे।

जब रात अधिक बीत गई और शत्रुओं की घातक चेष्टा कुछ कम न होती देख पड़ी तो दाऊद खुदा का नाम लेकर झाड़ियों

से निकला और दबे पाँव वृक्षों की आड़ में, आदमियों की नजरें बचाता हुआ एक तरफ को चला। वह इन झाड़ियों से निकल कर बस्ती में पहुँच जाना चाहता था। निर्जनता किसी की आड़ नहीं कर सकती। बस्ती का जन-बाहुल्य स्वयं आड़ है।

कुछ दूर तक तो दाऊद के मार्ग में कोई बाधा न उपस्थित हुई। वन के वृक्षों ने उसकी रक्षा की, किन्तु जब वह असमतल भूमि में आया तो एक अरब की निगाह उस पर गई। उसने ललकारा। दाऊद भागा। कातिल भागा जाता है, यह आवाज हवा में एक ही बार गूँजी और क्षण भर में चारों तरफ से अरबों ने उसका पीछा किया। सामने बहुत दूर तक आबादी का नामोनिशान न था। बहुत दूर पर एक धुँधला सा दीपक टिमटिमा रहा था। किसी तरह वहाँ तक पहुँच जाऊँ। वह उस दीपक की ओर इतनी तेजी से दौड़ रहा था मानो वहाँ पहुँचते ही वह अभय पा जायगा। आशा उसे उड़ाये लिये जाती थी। अरबों का समूह पीछे छूट गया, मशालों की ज्योति निष्प्रभ हो गई केवल तारागण उसके साथ दौड़े जाते थे। अन्त को वह आशामय दीपक सामने आ पहुँचा। छोटा सा फूस का मकान था, एक बूढ़ा अरब जमीन पर बैठा हुआ रेहल पर कुरान रक्खे उसी दीपक के मन्द प्रकाश में पढ़ रहा था। दाऊद आगे न जा सका। उसकी हिम्मत ने जवाब दे दिया। वहीं शिथिल होकर गिर पड़ा। रास्ते की थकान घर पहुँचने पर मालूम होती है।

अरब ने उठकर पूछा—तू कौन है ?

दाऊद—एक गरीब ईसाई। मुसीबत में फँस गया हूँ, अब आप शरण दें, तो मेरे प्राण बच सकते हैं।

अरब—खुदा पाक तेरी मदद करेगा। तुझ पर क्या मुसीबत पड़ी हुई है ?

दाऊद—डरता हूँ, कहीं कह दूँ तो आप भी मेरे खून के प्यासे न हो जायें।

अरब—जब तू मेरी शरण में आ गया तो तुझे मुझमें कोई शंका न होनी चाहिये। हम मुसलमान हैं। जिसे एक बार अपनी शरण में लेते हैं, उसकी जिन्दगी भर रक्षा करते हैं।

दाऊद—मैंने एक मुसलमान की हत्या कर डाली है।

वृद्ध अरब का मुख क्रोध से लाल हो गया। बोला—उसका नाम ?

दाऊद—उसका नाम जमाल था।

अरब सिर पकड़ कर वहीं बैठ गया, उसकी आँखें सुर्ख हो गईं, गरदन की नसें तन गईं, मुख पर अलौकिक तेजस्विता की आभा दिखाई दी। नथने फड़कने लगे। ऐसा मालूम होता था कि उसके मन में भीषण द्वन्द्व हो रहा है और वह समस्त विचार शक्ति से अब अपने मनोभावों को दबा रहा है। दो-तीन मिनट तक वह इसी उग्र अवस्था में बैठा धरती की ओर ताकता रहा। अन्त को अवरुद्ध कंठ से बोला—'नहीं नहीं, शरणागत की रक्षा करनी ही चाहिये। आह ! जालिम ! तू जानता है मैं कौन हूँ, मैं उसी युवक का अभागा पिता हूँ जिसकी आज तूने इतनी निर्दयता से हत्या की है। तू जानता है तूने मुझ पर कितना बड़ा अत्याचार किया है ? तूने मेरे खानदान का निशान मिटा दिया है, मेरा चिराग गुल कर दिया।

'आह ! जमाल मेरा इकलौता बेटा था, मेरी सारी अभिलाषायें उसी पर निर्भर थीं। वही मेरी आँख का उजाला, मुझ अंधे का सहारा, मेरे जीवन का आधार, मेरे जर्जर शरीर का प्राण था। अभी-अभी उसे कब्र की गोद में लिटा कर आया हूँ। आह ! मेरा शेर आज खाक के नीचे सो रहा है। ऐसा दिलेर, ऐसा

दीनदार, ऐसा सजीला जवान मेरी कौम में दूसरा न था।
जालिम तुझे उस पर तलवार चलाते जरा भी दया न आई!
तेरा पत्थर का कलेजा जरा भी न पसीजा! तू जानता है मुझे
इस वक्त तुझ पर कितना गुस्सा आ रहा है? मेरा जी चाहता है
कि अपने दोनों हाथों से तेरी गरदन पकड़ कर इस तरह दबाऊँ
कि तेरी जबान बाहर निकल आवे, तेरी आँखें कौड़ियों की तरह
बाहर निकल पड़ें। पर नहीं, तूने मेरी शरण ली है, कर्तव्य
मेरे हाथों को बाँधे हुए है क्योंकि हमारे रसूल पाक ने हिदायत
की है जो पनाह में आवे, उस पर हाथ न उठाओ। मैं नहीं
चाहता कि नबी के हुक्म को तोड़ कर दुनिया के साथ अपनी
आकबत भी बिगाड़ लूँ। दुनिया तूने बिगाड़ी, दीन मैं अपने
हाथों बिगाड़ूँ? नहीं। सब्र करना मुश्किल है, पर सब्र करूँगा,
ताकि नबी के सामने आँखें नीची न करनी पड़ें। आ, घर में
आ। तेरा पीछा करने वाले वह दौड़े आ रहे हैं। तुझे देख लेंगे
तो फिर मेरी सारी मिन्नत-समाजत तेरी जान न बचा सकेगी।
तू नहीं जानता कि अरब लोग खूनी को कभी माफ नहीं करते।'

यह कह कर अरब ने दाऊद का हाथ पकड़ लिया और उसे
घर में ले जाकर एक कोठरी में छिपा दिया। वह घर के बाहर
निकला ही था कि अरबों का एक दल उसके द्वार पर आ पहुँचा।
एक आदमी ने पूछा—क्यों शेख हसन, तुमने इधर से किसी
को भागते देखा?

'हाँ देखा है।'
'उसे पकड़ क्यों न लिया? वही तो जमाल का कातिल था।'
'यह जान कर भी मैंने उसे छोड़ दिया।'
'ऐं गजब खुदा का। यह तुमने क्या किया? जमाल हिसाब के
दिन हमारा दामन पकड़ेगा, तो क्या जवाब देंगे?'

"'तुम कह देना कि तेरे बाप ने तेरे कातिल को माफ कर दिया।'
"'अरब नें कभी कातिल का खून नहीं माफ किया।'
"'यह तुम्हारी जिम्मेदारी है मैं उसे अपने सिर क्यों लूँ।'

अरबों ने शेख हसन से ज्यादा हुज्जत न की, कातिल की तलाश में दौड़े। शेख हसन फिर चटाई पर बैठ कर कुरान पढ़ने लगा। लेकिन उसका मन पढ़ने में न लगता था। शत्रु से बदला लेने की प्रवृत्ति अरबों की प्रकृति में बद्धमूल हो गई थी। खून का बदला खून था। इसके लिये खून की नदियाँ बह जाती थीं; कबीले के कबीले मर मिटते थे, शहर के शहर वीरान हो जाते थे। उस पर विजय पाना शेख हसन को असाध्य-सा प्रतीत हो रहा था। बार-बार प्यारे पुत्र की सूरत उसकी आँखों के आगे फिरने लगती थी। बार-बार उसके मन में प्रबल उत्तेजना होती थी कि चलकर दाऊद के खून से अपने क्रोध की आग बुझाऊँ। अरब वीर होते थे। काटना-मारना उसके लिये कोई असाधारण बात न थी। मरने वालों के लिये वे आँसुओं की कुछ बूँदें बहा कर फिर अपने काम में प्रवृत्त हो जाते थे। वे मृत व्यक्ति की स्मृति को केवल उसी दशा में जीवित रखते थे, जब खून का बदला लेना होता था। अन्त को शेख हसन अधीर हो उठा। उसको भय हुआ कि अब अपने ऊपर क़ाबू नहीं रख सकता। उसने तलवार म्यान से निकाल ली और वह दबे-पाँव उस कोठरी के द्वार पर आकर खड़ा हो गया, जिसमें दाऊद छिपा हुआ था। तलवार को दामन में छिपा कर धीरे से द्वार खोला। दाऊद टहल रहा था। बूढ़े अरब का रौद्र रूप देखकर दाऊद उसके मनोवेग को ताड़ गया। उसे बूढ़े से सहानुभूति हो गई। उसने सोचा यह धर्म का दोष नहीं, जाति का दोष है। मेरे पुत्र की किसी ने हत्या की होती, तो कदाचित् मैं भी उसके खून का प्यासा हो जाता। यही मानव प्रकृति है।

अरब ने कहा—दाऊद तुम्हें मालूम है, बेटे की मौत का कितना गम होता है ?

दाऊद—इसका अनुभव तो नहीं है, पर अनुमान कर सकता हूँ। अगर मेरी जान से आपके उस गम का एक हिस्सा भी मिट सके तो लीजिये यह सिर हाजिर है। मैं इसे शौक से आपको नजर करता हूँ। आपने दाऊद का नाम सुना होगा।

अरब—क्या पीटर का बेटा ?

दाऊद—जी हाँ ! मैं वही बदनसीब दाऊद हूँ। मैं केवल आपके बेटे का घातक नहीं, इस्लाम का दुश्मन हूँ। मेरी जान लेकर आप जमाल का बदला न लेंगे किन्तु अपनी जाति और धर्म की सच्ची सेवा भी करेंगे।

शेख हसन ने गम्भीर भाव से कहा—दाऊद, मैंने तुझे माफ किया। मैं जानता हूँ मुसलमानों के हाथों, ईसाईयों को बहुत तकलीफें पहुँची हैं, मुसलमानों ने उन पर बड़े-बड़े अत्याचार किये हैं, उनकी स्वाधीनता हर ली है। लेकिन यह इस्लाम का नहीं मुसलमानों का कसूर है। विजय गर्व ने मुसलमानों की मति हर ली है। हमारे पाक नबी ने यह शिक्षा नहीं दी थी, जिस पर हम चल रहे हैं। वह स्वयं क्षमा और दया का सर्वोच्च आदर्श है। मैं इस्लाम के नाम को बट्टा न लगाऊँगा। मेरी ऊँटनी ले लो और रातों रात जहाँ तक भागा जाय, भागो। कहीं एक क्षण के लिये भी न ठहरना। अरबों को तुम्हारी बू भी मिल गई, तो तुम्हारी जान की खैरियत नहीं है। जाओ तुम्हें खुदाये पाक घर पहुँचाये। बूढ़े शेख हसन और उसके बेटे जमाल के लिये खुदा से दुआ किया करना।

दाऊद खैरियत से घर पहुँच गया किन्तु अब वह दाऊद न था जो इस्लाम को जड़ से खोद कर फेंक देना चाहता था। उसके विचारों में गहरा परिवर्तन हो गया था। अब वह मुसलमानों का आदर करता और इस्लाम का नाम इज्जत से लेता था।

अभ्यास के लिये

१—इस कहानी से क्या शिक्षा मिलती है ?

२—दाऊद और शेख हसन (जमाल के बाप) के चरित्रों की तुलना कीजिये। इन दोनों में आप किसे अच्छा समझते हैं ?

३—इस कहानी का सारांश संक्षेप में लिखिये।

४—प्रेमचन्द जी की लेखन-शैली पर एक छोटा-सा निबन्ध लिखिये और उनकी कहानियों की विशेषता का उल्लेख कीजिये।

६—वीरत्व

[लेखक—मिश्रबन्धु]

पं० गणेश बिहारी मिश्र, राव राजा डाक्टर श्याम बिहारी मिश्र और रायबहादुर पं० शुकदेव बिहारी मिश्र—हिन्दी साहित्य में 'मिश्रबन्धु' के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये कुलीन कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे इनका जन्म इटौजा (जि० लखनऊ) में क्रमशः सन् १८६५, १८७३ तथा १८७८ में हुआ था। ये तीनों भाई मिलकर हिन्दी साहित्य की सेवा बड़ी लगन से करते रहे हैं। ये तीनों भाई दिवंगत हो चुके हैं। बड़े भाई पं० गणेश बिहारी अधिकतर गृहस्थी का काम-काज करते थे। मँझले भाई—राव राजा डाक्टर श्यामबिहारी मिश्र एम० ए०, अपने जीवन काल में पुलिस

सुपरिन्टेंडेन्ट, कोआपरेटिव-सोसाइटीज के डिप्टी-रजिस्ट्रार, तथा छत्रपुर राजा के दीवान आदि उच्च पदों पर काम करते रहे और अखिल भारतीय हिंदी साहित्य-सम्मेलन के सभापति का आसन भी सुशोभित कर चुके हैं छोटे भाई रायबहादुर पं० शुकदेव बिहारी मिश्र वकालत करने के बाद मुन्सिफ और छत्रपुर के दीवान रह चुके हैं। इस प्रकार मिश्रबन्धु लक्ष्मी और सरस्वती दोनों के ही कृपापात्र रहे हैं।

हिन्दी-साहित्य-सेवियों में इस बन्धुत्रय का स्थान ऊँचा है। इन्होंने लगभग २७ पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें 'मिश्र-बन्धु विनोद' तथा 'हिन्दी नव रत्न' अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इनके साहित्यिक निबन्धों के संग्रह 'पुष्पांजलि' और 'सुमनांजलि' के नाम से प्रकाशित हुए हैं। इनकी शैली सरल तथा सुबोध है; भाषा शुद्ध हिन्दी होते हुए भी मँजी हुई है। प्रस्तुत पाठ इन्हीं का लिखा हुआ एक सुन्दर निबन्ध है।

वीरत्व संसार में एक अक्षम्य रत्न है। इसका आविर्भाव उत्साह से होता है। साहित्य शास्त्र में उत्साह ही इसका स्थायी भाव माना गया है, अर्थात् बिना उत्साह के यह कभी स्थिर नहीं हो सकता। जिस पुरुष में किसी प्रकार का उत्साह नहीं है वह किसी भी बात में कभी वीरता नहीं दिखला सकता। यह एक ऐसा गुण है कि जिसे न केवल वीर वरन् कादर भी सम्मान की दृष्टि से देखता है। वीर से बढ़कर सर्वप्रिय कोई भी नहीं होता है और संसार पर वीरता का जितना प्रभाव पड़ता है उतना प्रायः और किसी गुण का नहीं पड़ता। सत्य आदि भी बड़े अनमोल गुण हैं, किन्तु जितना आकस्मिक और रोमांचकारी प्रभाव वीरत्व का पड़ेगा उतना सत्य आदि का कभी नहीं पड़ेगा। इसीलिये वीरत्व में जगन्मोहिनी शक्ति सभी अन्य गुणों से श्रेष्ठतर है और यह

कीर्ति का सबसे बड़ा वर्धक है। कादरता में तिल मात्र आकर्षण-शक्ति तथा भय में कुछ भी प्रीति योग्य नहीं है। कादरता का कोई भी अंश चित्त को अपनी ओर आकृष्ट नहीं करेगा और भय में कुछ भी ऐसा नहीं है जो किसी का प्रीति भाजन हो सके।

वीरत्व को बहुत लोगों ने सामर्थ्य में मिला रक्खा है, किन्तु इन दोनों में कोई मुख्य सम्बन्ध नहीं है। सामर्थ्य केवल इतना करता है कि वीरत्व की महिमा बढ़ा देता है। यदि वीर पुरुष बलहीन हुआ तो उसकी वीरता वैसी नहीं जगमगाती जैसी कि बलवान वीर की। यदि हनुमान जी समुद्र न फलांग गये होते तो भी उतने ही बड़े वीर होते जैसे कि अब माने जाते हैं, किन्तु उसके महावीरत्व को चमकाने वाले उदधि उल्लङ्घन और द्रोणाचल आनयन के ही कार्य हुए। वीरत्व और पराक्रम में इतना ही भेद है।

वास्तविक वीरत्व का मुख्य आधार शारीरिक बल न होकर मानसिक बल है जिसे इच्छा शक्ति कहते हैं। इस शक्ति का वेग कोई भी नहीं रोक सकता। एक पुरुष की उद्दाम इच्छा-शक्ति से पूरी सेना में पुरुषत्व आ सकता है और एक कादर कभी-कभी पूरे दल की कादरता का कारण हो जाता है।

शरीर का वास्तविक राजा मन ही है। इसी की आज्ञा से शरीर तिल-तिल कट जाने से मुँह नहीं मोड़ता और इसी की आज्ञा से एक पत्ते के खड़कने से भाग खड़ा भी होता है। बुद्धि-अनुभव आदि इसके शिक्षक हैं। यही सब मिल कर इसे जैसा बनाते हैं वैसा ही यह बनता है। इच्छा इस शिक्षित अथवा अशिक्षित मन की आज्ञा है। मन जितना ही दृढ़ अथवा डावाँ-डोल होगा उसकी आज्ञा, इच्छा वैसी ही पुष्ट अथवा शिथिल

होगी। जिसका मन पूर्णतया शिक्षित और स्ववश है उसी की इच्छा में वज्रवत् दृढ़ता होगी। विना ऐसी इच्छा शक्ति के कोई पुरुष पूरा वीर नहीं हो सकता। इसलिये दृढ़ता वीरत्व की सबसे बड़ी पोषिका है। जिसका मन उचित काम करने से तिल मात्र चलायमान होता ही नहीं और जो अनुचित कार्य देखकर विना उसे शुद्ध किये नहीं रह सकता, वह सच्चा वीर कहलाता है।

वीरत्व का द्वितीय पोषक न्याय है। विना इसके वीरत्व शुद्ध एवं प्रशंसास्पद नहीं होता। न्याय से सच्चा होने को बुद्धि की आवश्यकता है और साधारण न्याय को उदारता से अच्छी कांति प्राप्त होती है। अतः वीरता के लिये न्याय-शीलता और बुद्धि की सदैव आवश्यकता रहती है। सच्चे वीर को अन्याय कभी सह्य नहीं होगा। हमारे यहाँ वीरता का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण भगवान् रामचन्द्रजी का है। इन्हीं को महाभवभूति ने महावीर की उपाधि से भूषित करके महावीर-चरित्र के नाम से इनकी जीवनी एक नाटक में लिखी है। दण्डकारण्य में जिस काल आपने निशिचरों द्वारा भक्षित ब्राह्मणों की अस्थियों का समूह देखा तो तुरन्त 'निशिचर हीन करों मही, भुज उठाय प्रन कीन्ह'। यही उत्साह का परमोज्ज्वल उदाहरण था जो आपने निशाचरों से विना कोई बैर हुये भी दिखलाया। समय आने पर आपने यह उद्दण्ड प्रण सत्य करके दिखला दिया।

इनकी इच्छा लोहे के समान पुष्ट थी जो एक बार जाग्रत होने से फिर दव नहीं सकती थी। इच्छा और कर्म में कारण-कार्य का सम्बन्ध है, सो कारण शिथिल होने से कार्य का होना कठिन होता है। कहते ही हैं कि विना दृढ़ेच्छा के सदसद्विवेकिनी बुद्धि की आशा अरण्य-रोदन हो जाती है। शुभ कार्य्यारम्भ के विषय में कहा है कि विघ्न-भय से अधम पुरुष किसी शुभ कार्य्य का

प्रारम्भ नहीं करते और मध्यम श्रेणी के लोग प्रारम्भ करके भी विघ्न पड़ने पर उसे छोड़ बैठते हैं, किन्तु उत्तम प्रकृति वाले हजारों विघ्नों को दबाकर एक बार का प्रारम्भ किया हुआ शुभ कार्य पूरा करके ही छोड़ते हैं।

सत्यनिष्ठा भी शौर्य्य के लिये एक आवश्यक गुण है। वीर पुरुष लोभ को सदैव रोकेगा, ईमानदारी का आदर करेगा, असत्यभाषण से बचेगा और अपना वास्तविक रूप छोड़कर कोई भी कल्पित भाव अथवा गुण प्रकट करने की स्वप्न में भी चेष्टा न करेगा। संसार में साधारण पुरुष लोकमान्यता के लालच में सिद्धान्तों को भङ्ग करते हुये बहुधा देखे गये हैं। सिद्धान्त-प्रिय पुरुष माने जाने की इच्छा लोगों की ऐसी बलवती देखी गई है कि लोगों द्वारा सिद्धान्ती माने जाने ही के लिये वे सब से बड़े सिद्धान्तों को हँसते हुये चकनाचूर कर देंगे। जो लोक मान्यता के भय से सिद्धान्तों को भङ्ग करने को तैयार नहीं है वह पुरुष सच्चा वीर कहलाने के योग्य है।

वीरत्व का सर्वश्रेष्ठ समय बाल-वय है। जितना उत्साह मनुष्य में इस काल में होता है, उतना और किसी समय नहीं होता श्लाघ्य चरित्रवान् मनुष्य को एक बालक जितना बड़ा मान सकता है उतना कोई दूसरा कभी भी न मानेगा। बाल-वय में मन सफेद कागज की भाँति होता है। इस पर सुगमतापूर्वक चाहे जो लिख सकते हैं। उदार चरित्रवालों में वीर-पूजन की मात्रा अधिकता से होती है और ऐसा प्रति पुरुष किसी न किसी को श्लाघ्य एवं महावीर अवश्य मानता है। केवल महा नीचों को ही संसार में कोई भी श्लाघ्य नहीं समझ पड़ता। जिसमें श्लाघ्य चरित्र-पूजन की कामना बलवती होती है। उसमें वीरता कम से कम बीज रूप से तो रहती है। स्यात् इन्हीं विचारों से हमारे यहाँ वीर पूजन की रीति चल गई हो।

बिना दूसरों के गुण ग्रहण किये हुये लोग प्रायः उदार-चेता नहीं होते। वीरों में कोमलता और उदारता प्रायः साथ ही साथ पाई जाती है। प्रसन्नचित्तता भी इन्हीं बातों का एक अंग है। कहा गया है कि बुराई रोकने का पहला उपाय भी मानसिक प्रसन्नता है, दूसरा उपाय भी मानसिक प्रसन्नता है और तीसरा उपाय भी मानसिक प्रसन्नता है। बिना इसके बुराई रुक ही नहीं सकती। मानसिक प्रसन्नता का प्रादुर्भाव प्रेम-भाव से होता है। जिस व्यक्ति से हम प्रेम करेंगे वह लौटकर हमसे भी प्रेम करेगा। इसलिये जो संसार-प्रेमी होता है उससे सारा संसार प्रेम करता है जिससे वह सदैव प्रसन्न रहता है। ऐसी दशा में वह बुराई किसके साथ करेगा ?

प्रायः देखा गया है कि अपने साथ किसी की खोटाई का मूल कल्पना मात्र होती है। हम स्वयं असभ्यता कर बैठते हैं और जब उसके प्रतिफल में हमारे साथ कोई असभ्यता करता है तब हम आत्म-प्रेम में अन्धे होकर समझ बैठते हैं कि वह अकारण हमारे साथ खोटाई करता है। इसीलिये सम्भावित पुरुष को बुराई से सदैव बचना ही उचित है और क्षमा से अवश्य काम लेना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से कोई इनको जीत नहीं सकता। इनको जीतने का सब से सुगम उपाय आशा ही है। इसीलिये कहा गया है कि आशा न छोड़ने वाला स्वभाव भी बहुत ही मूल्यवान् है।

स्वार्थ त्याग वीरता का सबसे बड़ा भूषण है। दास-भाव ग्रहण करके यदि कोई विवाह बन्धन में पड़े तो उसके इस कर्तव्य में कुछ न कुछ क्षति अवश्य पहुँचेगी। वीरवर हनुमान नें जब भगवान का दासत्व ग्रहण किया तब आत्म-त्याग का ऐसा अटल उदाहरण दिखलाया कि जीवन-पर्यन्त कभी विवाह ही नहीं

किया। इधर भगवान ने जिस काल यह देखा कि इनकी प्रजा इनके द्वारा सीता ग्रहण के कारण इन्हें उच्चातिउच्च आदर्श से गिरा समझती है तब इन्होंने प्राणोपम अर्द्धाङ्गिनी सती सीता तक का त्याग करके अपने प्रजारञ्जनवाले ऊँचे कर्तव्य को हाथ से नहीं जाने दिया। वाल-वय में भी अपने पिता की वे-मन की आज्ञा मानने तक से इन्होंने तिलमात्र संकोच नहीं किया। आपने यावज्जीवन स्वार्थ-त्याग और कर्तव्य-पालन का ऊँचा आदर्श दिखलाया, मानों ये सदेह कर्तव्य होकर पृथ्वी पर अवतीर्ण हुये थे।

कार्य साफल्य साधारण दृष्टि से तो वीरता का पोषक है, किंतु दार्शनिक दृष्टि से इसका शौर्य से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। दार्शनिक शुद्धता प्रति वास्तविक वीर-कर्म में आ जाती है, चाहे वह तिलमात्र भी सफल न हुआ हो और साधारण से साधारण पुरुष द्वारा सम्पादित हुआ हो। एक साधारण सैनिक जो अपने सेनापति की आज्ञा से मोर्चे पर शरीर त्याग देता है, दार्शनिक दृष्टि से, वड़े से वड़े विजयी के वरावर है। वीरता के मूल सूत्र कर्तव्य-पालन और स्वार्थ-त्याग हैं। विना इनके कोई मनुष्य वास्तविक वीर नहीं हो सकता।

एक वार दो रेलों के लड़ जाने से एक इञ्जन हाँकने वाला अपने एञ्जिन में दवकर वायलर में चिपक रहा। वह मृतप्राय था, किन्तु उसके होश हवाश नहीं गये थे। इसलिये वह जानता था कि वायलर जल्द फटकर उड़ेगा, जव और लोग उसे छुड़ाने के लिये प्रयत्न करने लगे तो उसने उन सव को वहाँ से यह कह कर खदेड़ दिया कि मैं तो मरा ही हूँ, तुम सव यहाँ प्राण देने क्यों आये हो, क्योंकि भाप के वल से अभी वायलर फटना चाहता है जिससे सव के प्राण चले जायेंगे। मरणावस्था में भी दूसरों के लिये इतना ध्यान रखना वीरता का वड़ा लक्षण है।

हमारे यहाँ वीर को शूर कहते हैं कि अन्धे की भाँति यह भय को देख ही न सके। बालक, स्त्री, दीन, दुखिया आदि के उद्धार में वीर पुरुष अपना जीवन तृण के समान दे देगा। सच्चा वीर निर्बल, भीत, कायर, स्त्री पर कभी किसी प्रकार का अत्याचार न करेगा। संसार में जिसकी पदवी जितनी ही ऊँची है उसे उतनी ही अधिक वीरता दिखलानी चाहिये, क्योंकि उसकी वीरता से संसार का बहुत अधिक लाभ हो सकता है। इन्हीं कारणों से राजा को सब से अधिक वीर होना चाहिये। कहा भी है 'वीर भोग्या वसुन्धरा।' फिर भी छोटे-छोटे पुरुष को भी उच्च सिद्धान्तों से तिलमात्र नहीं हटना चाहिए, क्योंकि थोड़ी-सी बुराई भी संसार में अपना फल दिखलाये बिना नहीं रहती। इसी से कहा गया है कि अनुभवी पुरुष को थोड़े से अवगुण की भी उपेक्षा न करनी चाहिये, नहीं तो थोड़ा सा अवगुण उसमें अवश्य आ जायगा।

अभ्यास के लिये

१—वीरत्व क्या है? इसके महत्व के विषय में आप क्या जानते हैं?

२—वीरत्व और सामर्थ्य में क्या भेद है? उदाहरण देकर समझाइये।

३—वीर बनने के लिये किन-किन गुणों का होना आवश्यक है और क्यों?

४—'मानसिक बल' और 'स्वार्थत्याग' वीरत्व से किस प्रकार सम्बधित हैं?

५—निम्नांकित के अर्थ और उन्हें वाक्यों में प्रयुक्त कीजिये :—
श्लाघ्य, रोमांचकारी, मुँह मोड़ना; डावाँडोल, अरण्य-रोदन; चकनाचूर और अवाक् रहना।

६—मिश्रबन्धुओं की साहित्य-सेवा का उल्लेख कीजिये।

७—अँगूठी

[लेखिका—श्रीमती चन्द्रावती त्रिपाठी, एम० ए०]

आपका जन्म मुरादाबाद के एक प्रतिष्ठित एवं सुशिक्षित घराने में हुआ है। आपने प्रयाग क्रास्थवेट कालेज तथा प्रयाग विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की है। आप कान्यकुब्ज जाति की प्रथम लेडी ग्रेजुयेट और हिन्दी विषय लेकर एम० ए० उत्तीर्ण होने वाली सर्वप्रथम महिला हैं। आजकल आप प्रयाग विश्वविद्यालय के अन्तर्गत वीमेन्स कालेज में प्रोफेसर हैं।

श्रीमती चन्द्रावती जी का पालन-पोषण हिन्दी के वायुमंडल ही में हुआ है अतः हिन्दी के प्रति आपका विशेष अनुराग होना स्वाभाविक ही है। आपके निबन्ध सरस्वती में प्रकाशित होते हैं। 'नन्ददास की रास पंचाध्यायी', 'तुलसीदास के राजनीतिक विचार' और 'मातृ भाषा की महत्ता' शीर्षक आपके सुन्दर लेख हैं। आपने निबन्धों में बड़ी ही सुबोध एवं सरल भाषा का प्रयोग किया है। प्रस्तुत पाठ आपके लेखों में एक अत्यन्त रोचक लेख है।

अँगूठी की गणना जेवरों में होती है। अन्य गहनों की अपेक्षा यह बहुत साधारण और छोटा जेवर माना जाता है। आकार में

छोटी होने के कारण बड़े जेवरों के साथ इसका व्यक्तित्व छिपा रहता है। उनके सामने तो उसके वास्तविक महत्व का ज्ञान, उसके अलौकिक गुणों की परख, बहुत कम लोगों को होती है। पर इस छोटे से आकार वाले जेवर ने अपने जीवन-इतिहास से यह सिद्ध कर दिखाया है कि छोटी वस्तुयें भी अपने असाधारण गुणों के कारण अमरत्व की अधिकारिणी हो जाती हैं।

अँगूठी में सबसे विचित्र गुण यह है कि वह एक ऐसा जेवर है जो प्रत्येक देश और प्रत्येक जाति और प्रत्येक समाज को अपने प्रेम-पाश में बाँधे हुये है। सारा संसार इस पर मुग्ध है। क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, क्या ईसाई, सभी इसके चिर प्रेमी बने हुए हैं। सभी ने अपने समाज में इसे उच्च-स्थान और आदर दे रक्खा है। अन्य जेवरों के समान इस पर केवल स्त्रियों की ही छाप नहीं है। स्त्री और पुरुषों, दोनों का ही इस पर समान अधिकार है, समान प्रेम है। दोनों की ही यह परम प्रेयसी बनी हुई है।

इतना लघु आकार और इतना दुर्बल शरीर पाने पर भी इसका व्यक्तित्व असाधारण है, इसकी शक्ति अनुपम है, इसकी आत्मा बड़ी बलवती है। इस कारण जेवर के प्रधान शत्रु फैशन का सामना एक-मात्र अँगूठी ही दृढ़ता के साथ कर सकी है। इसने अपने प्रबल शत्रु को सफलता के साथ परास्त किया है। गहनों के इतिहास के देखने से पता चलता है कि फैशन के चंगुल में फँसकर अब तक सैकड़ों जेवर अपना स्वरूप, अपना अस्तित्व सदा के लिये खो चुके हैं। कितनों का रूप विकृत हो गया, कितनों का केवल नाम-मात्र अवशेष है और कितनों का नाम-निशान भी मिट गया है। सारांश यह कि फैशन सैकड़ों जेवरों की जीवन-लीला क्षण भर में समाप्त कर देता है। किसी एक

काल के लोकप्रिय जेवर दूसरे काल में पुराने कहला कर फैशन के शिकार बन जाते हैं। पर शाबाश है अँगूठी को, जो फैशन के निष्ठुर हाथों से आज तक बची हुई है। न उसका पहनावा बन्द हुआ न उसका कोई स्थानापन्न ही मिला। प्राचीन काल से लेकर आज तक अँगूठी-अँगूठी ही है। प्राचीन होने पर भी वह नवीन है, सब से अधिक प्रचलित होने पर भी सर्वप्रिय है। इसलिये गरीब से लेकर राजा तक, बालक से लेकर वृद्ध तक, ग्रामीण अशिक्षित से लेकर आधुनिक शिक्षा और सभ्यता से युक्त विद्वान् तक इसके अनन्य प्रेमी बने हुये हैं। गहनों के घोर विरोधी, अति आधुनिक और नवीनता के प्रेमी भी इसके सच्चे भक्त हैं। सचमुच, इसके समान सम्मान और प्रेम पाने वाला जेवर कदाचित् ही दूसरा निकले।

इन गुणों के सिवा इसका एक सर्वश्रेष्ठ गुण और है। वह है इसकी अद्भुत आकर्षण और मनोभावना को व्यंजित करने की अनुपम शक्ति। मनोविज्ञान की यह पूर्ण ज्ञाता है। कठोर धातु के निर्मित अपने निर्जीव शरीर में, छोटी-सी परिधि के भीतर ही मानव हृदय की गूढ़ से गूढ़ और गहरी से गहरी सुकुमार भावनाओं को केन्द्रीभूत करने की इसमें अपार कुशलता है। शायद इसी गुण के कारण विवाह ऐसे पवित्र अवसरों पर भी इसका समुचित समादर है। ईसाइयों के यहाँ तो सगाई और विवाह के अवसरों पर इसका अत्यधिक महत्व है। इनके यहाँ यह विवाह का शुभ चिन्ह मानी जाती है। इसके आदान-प्रदान से ही दो प्राणी पति-पत्नी के रूप में आजीवन के लिये बँध जाते हैं। विभिन्न हृदयों के एकीकरण का और आत्मसमर्पण का कैसा सुन्दर 'प्रणय-चिन्ह' है! हिन्दुओं के यहाँ भी विवाह के चौथे दिन 'चतुर्थी' नामक रस्म में अँगूठी का महत्व है। उस दिन वर-वधू एक-दूसरे के हाथों का कंगन खोलते हैं और कुछ अन्य

कृत्यों के बाद वर अपनी अँगूठी वधू को पहना देता है। इसका अभिप्राय भी यही होता है कि वह इस 'प्रणय-चिह्न' को देकर वधू पर प्रकट कर देता है कि उसके हृदय और प्रेम की एक-मात्र अधिकारिणी अब से वही हुई। प्रेम-प्रदर्शन का कैसा अनूठा ढङ्ग है! दो अपरिचित हृदयों का कितना सुन्दर प्रेमालाप है, भाव प्रकाशन की कितनी अर्थपूर्ण संकेतमयी भाषा!

वैवाहिक महत्व के सिवा अन्य अवसरों पर भी अँगूठी का महत्व कुछ कम नहीं है। परोपकार और मान-रक्षा तो इसके प्रधान कर्त्तव्य हैं। ऐसा कोई नहीं जिसको समय पड़ने पर यह सहायता न देती हो। इसी कारण यह सब को प्यारी है। कम से कम और अधिक से अधिक सूल्यवती होने के कारण इसकी लोकप्रियता अधिक बढ़ी हुई है। इसकी एक मुख्य विशेषता यह है कि प्रत्येक अवसर पर प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह बहुत अनुकूल और उपयुक्त उपहार हो सकती है। इस कारण इसका प्रचार व्यापक है। यह दो बिछुड़ते हुये प्रेमियों के लिये सर्वोत्तम 'स्मृति-चिह्न' है, विरही जनों के शांति पाने का सुखद अवलंब हैं, प्रेमिका पर प्रेम का प्रथम परिचय देने के लिये प्रेमी का सुन्दर 'प्रेमोपहार' हैं, गरीबों की जेवर की चिरसाध की पूर्ति का एकमात्र साधन है, अमीरों का ऐश्वर्य और वैभव प्रदर्शन करने का बहुत छोटा-सा भाव-पूर्ण संकेत है।

इसके गुणों और मोहनी शक्ति पर मुग्ध होकर ही भावनाओं के सच्चे पारखी कवियों ने भी एक मात्र इसी जेवर को साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। प्राच्य और पाश्चात्य दोनों ही देशों के साहित्य में हम इसके उदाहरण पाते हैं। संस्कृत के महाकवि कालिदास के विश्व-विख्यात 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक में अँगूठी का जो महत्वपूर्ण स्थान है वह किसी से छिपा नहीं है।

नाटक की घटनाओं को तीव्रतम स्थिति पर पहुँचाने वाली, भावनाओं का अन्तर्द्वन्द्व दिखलाने वाली, संयोग-दशा उपस्थित होने पर भी वियोग कराने वाली और अन्त में दुःखान्त होने वाले नाटक को सुखान्त बना देने वाली एक मात्र यह अँगूठी ही है। अँगूठी की काल्पनिक कथा को निकाल देने से उस नाटक में कुछ भी नहीं रह जाता। वास्तव में नाटक की ख्याति का मुख्य कारण, कवि की प्रतिभा का विकास कराने का मूल आधार, अँगूठी ही है। संस्कृत के विशाखदत्त-कृत 'मुद्रा राक्षस' नाटक में भी अँगूठी ही एक प्रकार से समस्त घटनाओं का सूत्रधार बनी हुई है। राक्षस की नामांकित अँगूठी पा जाने पर चाणक्य जाली-पत्र तैयार करता है और उस पर अँगूठी से मुहर छापकर शत्रु में भेद का बीज बो देने में सफल होता है। इसी के सहारे सारी घटनाएँ राक्षस के विपक्ष में और चाणक्य के पक्ष में हो जाती हैं। राक्षस पकड़ा जाता है। चाणक्य और राक्षस की सफलता और विफलता का खेल अँगूठी ही दिखलाती है।

आदि कवि वाल्मीकि और हिन्दी-कवि तुलसीदास के श्री रामचन्द्र भी बन जाते समय समस्त ऐश्वर्य निस्पृह-भाव से परित्याग कर देते हैं, पर अँगूठी का मोह त्यागना वनवासी राम के लिये भी कठिन हो जाता है। उसे वे चुपचाप अपने साथ वन को ले ही जाते हैं। इनके इस प्रेम को देखकर वह नाच उठती है। अवसर पड़ने पर वह भी श्रीराम के हाथ के कोमल और सुखद स्पर्श के सुख को त्याग कर हनुमान द्वारा लंकापुरी में पहुँच कर सीता की शांति का साधन बन जाती है। कविवर केशवदास की 'रामचन्द्रिका' में तो श्रीराम की अँगूठी न मालूम कितनी अनूठी भावनायें सीता के हृदय में जागृत कर देती है। इतना ही नहीं; इसके क्षणिक स्पर्श से केशव की कला भी चमक उठती है!

सीता का भावावेश इतना अधिक तीव्र हो जाता है कि वे क्षण भर के लिये विवेक-शून्य हो जड़-चेतन का भेद भूल जाती हैं। वे जड़ 'मुँदरी' से कितने भाव-पूर्ण शब्दों में प्रश्न कर बैठती हैं :—

"श्रीपुर में वन मध्य हों, तू मग करी अनीति।
कहि मुँदरी अब तियन की, को करिहै परतीति॥

कहि कुशल मुद्रिके राम गात।
सुभ लक्ष्मण-सहित समान तात।"

पर जब मुँदरी से कोई उत्तर नहीं पातीं, तब किस भोलेपन से हनुमान से उसकी मौनता का कारण पूछती हैं :—

"यह उतरु देत नहिं बुद्धिमंत। केहि कारण धौं हनुमंत संत"

सीता की मानसिक अव्यवस्था को देखकर हनुमान भी कितनी चतुराई से उत्तर देते हैं :—

"तुम पूछत कहि मुद्रिके, मौन होत यहि नाम।
कंकन की पदवी दई, तुम बिन या कहँ राम॥"

कितनी खूबी से हनुमान सीता को उसकी स्थिति का ज्ञान करा कर श्रीराम की विरहावस्था का भी परिचय देते हैं।

इसी प्रकार अँग्रेजी के महाकवि शेक्सपियर ने भी अपने 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' नामक नाटक में अदालत की कार्रवाई के बाद अँगूठी की अन्तःकथा की ही कल्पना कर दुःखान्त होने वाले नाटक का अन्त सुखमय बना दिया है। अदालत के दृश्य में शायलाक द्वारा एन्टोनियो के हृदय का एक पौंड मांस लेने के हठ से जनता स्तंभित हो जाती है। समस्त घटनाओं तथा दृश्यों

का वातावरण पाठकों की भावनाओं को उद्दीप्त कर अशान्त बना देता है। पर अँगूठी की कल्पना से कवि क्षण भर में ही सारा वातावरण बदल देता है। बैरिस्टर के वेश में पोर्शिया आकर अपने अकाट्य तर्कों के बल से एन्टोनियो के प्राण बचा लेती है। उस समय वह और उसके क्लर्क के वेश में नेरिसा, बसेनियो और ग्रैशियानी से कृतज्ञता के चिह्न रूप में अँगूठी ही लेते हैं। नाटक के अन्त में जब सब पात्र एक जगह मिलते हैं तब अपनी प्रकृति के अनुसार अँगूठी पोर्शिया और बसेनियो में और नेरिसा और ग्रैशियानो में क्षणिक 'प्रणय-कलह' करा कर अद्भुत आनन्द लूटती है। पोर्शिया बसेनियो पर दोषारोपण करती है। बात अधिक बढ़ती देखकर अँगूठी को बसेनियो पर दया आ जाती है और वह तत्काल सामने आकर सारा रहस्य खोल देती है। सारे पात्र प्रसन्न हो जाते हैं।

इसी प्रकार आधुनिक साहित्य में भी इसके अच्छे उदाहरण मिलते हैं। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी 'शेषेर कविता' नामक रचना में अँगूठी की अन्तःकथा की सृष्टि करके एक लक्ष्य की ओर बढ़ती हुई घटनाओं की धारा का प्रवाह एकदम बदल दिया है।

बाबू बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय लिखित 'युगलांगुलीय' में तो अँगूठी का एक जोड़ा ही सारे कथानक में प्रधान बना रहता है।

इसके अतिरिक्त राजनीति ऐसे नीरस जीवन में भी अँगूठी का अपूर्व प्रेम है। राजनीति की कुटिल चालों में भी इसका हाथ है। प्राचीनकाल में राजाओं की सत्ता की निर्देशिका यही रहती थी, राज्य-कार्यों में इसी का हाथ अधिक रहता था। भारत के इतिहास में अनेक कथाओं में भी इसका मुख्य भाग है। अधिक-

तर राजा-रानियाँ और राजकुमारियाँ शत्रु के अपमान से बचने के निमित्त इसी के नग की ओट में विष छिपाये रखती थीं और समय पड़ने पर उनको खाकर अपने धर्म और गौरव की रक्षा करती थीं।

अत: अँगूठी के जीवन-इतिहास के पृष्ठ को देखकर यही कहा जा सकता है कि इसका यौवन अनन्त है, सौभाग्य अखंड है, जीवन अमर है और यश विश्व-व्यापी है।

अभ्यास के लिये

१—आभूषणों में अँगूठी को इतना अधिक महत्व क्यों दिया जाता है?

२—'फैशन के निष्ठुर हाथों से केवल अँगूठी ही बची हुई है'—यह कहाँ तक सत्य है?

३—अँगूठी ने किस प्रकार कालिदास के दु:खान्त होने वाले नाटक को सुखान्त कर दिया?

४—किन-किन साहित्यकारों ने अँगूठी के सहारे अपने ग्रन्थों का निर्माण किया है? और वे अपनी रचनाओं में कहाँ तक सफल हुए हैं?

५—अंगूठी के गुण-दोषों पर प्रकाश डालते हुए उसकी लोक-प्रियता पर एक छोटा सा लेख लिखिए

८—बीज की बात

[लेखक—श्री राय कृष्णादास]

श्री राय कृष्णदास जी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कुटुम्बी हैं। आपका जन्म काशी में सं० १९४९ वि० को हुआ था। नौ वर्ष की अवस्था से ही आप कविता करने लगे थे। बारह वर्ष की अल्प-आयु में आपके पिता

का स्वर्गवास हो गया। 'दुलारे रामचन्द्र' नाम से १६ वें वर्ष में आपने एक उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया जो अधूरा ही रह गया। कविता में आपके मार्ग-दर्शक बाबू मैथिलीशरण गुप्त हैं। आप बङ्गला साहित्य से भी प्रभावित हुए हैं। आपकी 'साधना' रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' के ढंग पर रची गई है। आपकी कहानियों पर श्री रवीन्द्र और प्रभात का प्रभाव पड़ा है। आप कला-कोविद भी हैं। आपकी सबसे बड़ी कीर्ति आपका किया हुआ कला कृतियों का संग्रह है जो आजकल नागरी प्रचारिणी-सभा, काशी का एक अङ्ग है। आपने हिन्दी-साहित्य की महत्वपूर्ण सेवायें की हैं। आपकी गद्य-रचनाओं में मानव-हृदय की अनुभूतियों की बड़ी मर्मस्पर्शी अभिव्यंजना हुई है। भावात्मक शैली के निर्वाह में आपने काव्य-कल्पना का विशेष आश्रय लिया है। आपकी अधिकांश गद्य-रचनाएँ दार्शनिक भावों से परिपुष्ट और सुन्दर हैं। भावनाओं की गम्भीरता के साथ-साथ आपकी भाषा बड़ी ही परिमार्जित एवं प्रौढ़ है। नित्य व्यावहारिक और चलती हुई भाषा में भावव्यंजना की इतनी क्षमता प्रदर्शित करना आप ही का काम है। तत्सम शब्दों के साथ-साथ नित्य की बोलचाल के तद्भव तथा यत्र-तत्र उर्दू और देशज शब्दों का उपयुक्त प्रयोग भी आपने किया है। भावावेश के चमत्कारों का आपकी शैली में उतना ही परिपुष्ट रूप मिलता है, जितना प्रसाद जी की शैली में। शब्दों का चमत्कार और पदों के लालित्य के साथ-साथ अलंकृत-भाषा का प्रयोग भी आपने बड़ी कुशलता से किया है। आपकी उत्कृष्ट और प्रौढ़-शैली में आपके व्यक्तित्व की गहरी छाप है। जैसे सुन्दर आप कलाविद हैं वैसी ही कला-परिपुष्ट आपकी गद्य-शैली है।

राय कृष्णदास ने कविता, गद्य-गीत, कहानियाँ एव संलाप आदि की रचना की है। आपके साधना, छायपथ, प्रवाल, छाया अनाख्या और सुधांशु सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। बीज की बात—'सुधांशु' से ही उद्धृत किया गया है।

"जब किसान अपने खेत का झाड़-झंखाड़ बटोर कर खाद के गढ़े में फेंकने लगा तो मैं भी उन्हीं की एक पतली-सी-टहनी से चिपक कर उस गड़े में जा पड़ा और अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

"कृषक दिन भर का परिश्रम करके आनन्द से गाता हुआ घर लौटा। उसे केवल परिश्रम का ही आनन्द न था, उसने आज ढेर की ढेर खाद का सामान भी जुटा लिया था। निःसन्देह अगले साल फसल दूनी होगी। यही नहीं, उसने अपने खेती के शत्रु—हमारे स्वयंरूढ़-वनस्पति-वंश—का भी समूल नाश कर डाला था परन्तु उसे मेरे अस्तित्व का पता न था।

"खलिहान समाप्त हुआ। गर्मी आई। ऋण-व्याज, देन-पोत के भार से लदे हुए कृषक पेट काटकर वनियों के हाथ अनाज वेचने लगे और उसके मूल्य में से वे अपने रक्त चूमने वाले भू-स्वामि-पितरों का तर्पण करें कि लग्न के दिन आ पहुँचे और उस धन का वहुत वड़ा अंश वैवाहिक अग्नि में हवन हो गया। खेतिहर अपने आमोद में मग्न थे—'चरैं हरिन तृन बलि-पसु जैसे।"

"भूमिपाल का जो वज्र अभी उन पर घहराने वाला था, जम की जकात जो खूब जोरों से वसूल की जा रही थी, उसकी ओर उनका ध्यान भी न था। और कहाँ तक! जब यह नित्य का भाग्य ठहरा तो कव तक कोई हाय-हाय करे। अच्छा है जो वेचारे इतनी हँसी-खुशी तो मना लेते हैं।

"हाँ तो, खेतिहर अपने आमोद में उलझे हुये थे और उन पर दैवी एवं मानुषी आपत्तियों के मेघ मँडरा रहे थे। मैं उसी गढ़े में से उझक-उझक यह लीला देखकर इस प्रतिहिंसा-वृत्ति से प्रसन्न हो रहा था कि तुम हमारे कृतान्त हो, तो तुम्हारे वे हैं।

"धीरे-धीरे लू के सर्राटे बढ़ने लगे और सारा संसार एक जलता हुआ आँवा हो उठा। ऐसे ही समय में मैं, एक जीरे से भी नन्हा और दुबला-पतला सींकिया जवान जलती हुई हवा की बंड़वा पर सवार होकर अपना कर्मक्षेत्र खोजने निकल पड़ा।

'हवा पर सवार, अपनी धुन में मस्त, प्रतिहिंसा का बीज-मन्त्र, मैं आतिशबाजी के बान की तरह सपाटे से चला जा रहा था कि मुझे एक ठिकाना दिखाई दिया और मैंने एक कलामंडी ली तथा उसमें पहुँच कर छिप बैठा।

'दो खेतों के बीच एक ऊँची सी मेड़ थी। बात यह थी कि दोनों खेत वालों में आपस में मेल न था। इसलिये उन्होंने, अपनी खुशी में नहीं अपनी इच्छाओं को एक तीसरे के पास बन्धक रख कर यह मेड़ बनवा दी। उसी विरोध के देहरे में मैं उनके सर्वनाश के देवता की तरह, एक छोटे से छिद्र में, स्थापित हो गया और अवसर की प्रतीक्षा करने लगा। क्योंकि उनकी जड़ उखाड़ने के लिये मुझे अपनी जड़ जमानी थी, लू के झटके ने अपने गर्म ओठों से मुझे चूमा और न जाने कहाँ चला गया। उसकी गर्मी मेरी नस-नस में दौड़ गई। प्रतिहिंसा के लिये मेरा खून उबलने लगा।

"एक दिन आकाश में घटा घिर आई। बूँदें पड़ने लगीं। पृथ्वी ने एक सोंधी उसास ली और प्रकृति बाजीगरनी के भानु-मती पिटारे, हम बीज, अपनी इन्द्रजाल पसारने लगे। दो ही चार दिन में अंकुरित होकर खल्वाट पृथ्वी को हमने गहरी हरी कुन्तल राशि से आच्छादित करना शुरू किया।

"मैं भी पनपने लगा। मेरी दृढ़ता देखकर अन्तरिक्ष मुझे पयोदान करने लगा। मनुष्य की जलती हुई आँखें ठंडी हुईं। किन्तु किसानों को वह हरियाली अंगारे की तरह मालूम होने

लगी जिसे वे अपनें उपयोग में ला सकते हों वे धीरे-धीरे हमारी सफाई करनें लगे।

"परन्तु मेरा भाग्य मेरे भाई-बन्धों से भिन्न था। मैं ऐसी जगह जमा था जहाँ की परवाह मेरे दोनों ओर के ही कृषकों को न थी। वह मेड़ थी—उन लोगों के परतंत्र अधिकारों की वेड़ी। उसकी ओर हाथ बढ़ानें की उनकी मजाल न थी। जहाँ मनुष्य की शक्ति काम नहीं करती, वहाँ वह उदासीनता के बल पर विजय पानें की आशा करता है। किन्तु उदासीनता से ही दूसरों का काम बनता है।

"इस भाँति पूर्ण स्वतंत्रता से मैं अपनें उत्साह की तरह बढ़नें लगा। पूरवी हवा के झकोरों पर पेंगे मारनें लगा; आनन्द-गान गानें लगा और उस दिन की प्रतीक्षा करने लगा, जब मैं एक से अनेक होकर मनुष्य की संहारैषणा पर पानी फेर दूँ।

"किन्तु मनुष्य के भूमि-अधिकारी के आगे पशुओं ने सिर नहीं झुकाया है। मनुष्य की राजनीति, राष्ट्र-विभाजन, भूमि-क्षेत्रण पशुओं के लिये मान्य नहीं। चाहे मनुष्य दिन-रात उन्हें जोतता रहे, पर वे पृथ्वी पर अपनें स्वाभाविक जन्मसिद्ध अधिकारों से वंचित होनें के लिये प्रस्तुत नहीं। राजप्रासादों के प्रचण्ड प्रहरी कीट-पतंगों के आक्रमण और अधिकार से उनकी रखवाली नहीं कर सकते।

"सो, उन किसानों के बैलों ने मुझे कवलित कर जाना चाहा। एक ने मुझ पर मुँह भी चलाया; किन्तु हमारी आत्म-रक्षा की कामना ने लाखों ही बरस पहले से इसका प्रतिकार कर रक्खा था। हमनें अपनी नसों में एक ऐसी उग्र गन्ध पैदा कर ली थी कि कोई पशु हमें मुँह में ले ही न सकता था। हमारी

यह परम्परागत प्रतिक्रिया उस क्षण में काम आई और उस बैल ने अपने नथने फुफकारते हुये मेरी ओर से मुँह फेर लिया।

"परन्तु इसी प्रसंग में, जाने क्रुद्ध होकर या अकस्मात्, उसने मुझे कुचल दिया और मेरा कोमल हरा शिशु-शरीर छिन्न-भिन्न हो उठा। उस समय मुझे जो पीड़ा हुई, उसका अनुभव शायद दलित मानवता को हो तो हो। जो हो उससे मेरा एक लाभ हुआ, मेरी वर्हिमुख शक्ति अन्तर्मुख हो उठी और मेरी सारी पनपने और बढ़ने की शक्ति मेरी जड़ों में समाकर उन्हें पुष्ट और गहरी बनाने लगी। इसी प्रकार जब कुछ दिनों में उस शक्ति ने मेरी नींव बिलकुल अचल कर ली, तो उसका ध्यान मेरी ऊपरी बाढ़ की ओर गया और हेमन्त के धुँधले प्रभात में मैं गहगहाकर पनप उठा।

"किसान अपने काम में लगे थे। उनकी फसल उनकी सेवा से बाढ़ ले रही थी और मैं 'राम भरोसे जो रहैं, जङ्गल में हरियायँ' के अनुसार अपने सुयोग के लिये सन्नद्ध हो रहा था।

"धीरे-धीरे शिशिर ने अपना राज्य फैलाया और वह अत्याचार किया कि किसानों के सारे किये-कराये पर तुषारपात हो गया, किन्तु मैं अपनी मौज में कलिया रहा था।

"जब वसन्त आया तो मैंने उसे अपने छोटे-छोटे कासनी फूलों की भेंट दी और उसने मेरी भीनी-भीनी महक को अपने पवन द्वारा इधर-उधर वितरित करा दिया। अपनी इस कीर्ति से मुझे उतनी प्रसन्नता न हुई, जितनी उस वसन्त के संगीत से जिसके प्रत्येक स्वर में मुझे अपनी तपश्चर्या की सिद्धि की मन्द ध्वनि सुनाई पड़ रही थी।

"कृषक बेचारे दुखी थे, उनकी फसल मारी गई थी। यों ही दाने-दाने को मुहताज हो रहे थे। अब तो दाने भी नहीं, वक्कल

के भी मुहताज होने की बारी आ गई। यद्यपि मुझे उनसे कोई सहानुभूति न थी, पर मैं उनके दुःख से दुखी जरूर था। और यदि वे मेरी भाषा समझ सकते तो मैं उन्हें अवश्य अपने हृदय की वेदना कह सुनाता।

"अन्य पार्थिवों के साथ पारस्परिक व्यवहार पर मैं उन्हें एक उपदेश भी दिया चाहता था। पर दुर्भाग्य! हमारी भाषाएँ भिन्न थीं। जो हो, मैं इन विचारों में मग्न ही था कि वसन्त बीत चला और ग्रीष्म के आगमन के साथ मेरे फूलों की पँखड़ियाँ भी बीजों में परिणत हो उठीं।

"चैती बयार बह रही थी और मारे पसन्नता के मेरी छाती फूली जा रही थी। मेरे असंख्य बीज अपने मुरझाते हुये पुष्प-कोष में रहने के लिये तैयार न थे। मैंने भी कहा—ठीक है, एकोऽहं बहु स्याम्, की सिद्धि हो ही चुकी अब तुम देर न करो नहीं तो कहीं फिर खाद के गढ़े में पहुँच गये तो न जाने कहाँ के कहाँ हो जाओगे और यह तैयार सेना कम से कम एक साल के लिये तितर-बितर हो जायगी। अतएव इसी क्षण तुम सब यहाँ फैल जाओ और इस कृषि-समृद्धि के तहस-नहस के लिए अभी से मोर्चाबन्दी कर लो।

"ठीक इसी समय पवन के एक झोंके ने आकर उन्हें बखेर ही नहीं दिया, प्रत्युत उन्हीं-उन्हीं स्थानों पर ले आकर स्थापित भी कर दिया, जहाँ से उनमें का एक भी नष्ट न हो सके।

"सच है—

"उद्यमः साहसं धैर्यं बुद्धिः शक्तिः परक्रमः।
षडेते यत्र वर्तन्ते तत्र दैवस्सहायकृत्॥"

अभ्यास के लिये

१—बीज की बात सारांश का अपनी भाषा में लिखिये।
२—बीज अपनी प्रतिहिंसा की भावना में किस प्रकार सफल हुआ?

३—प्रस्तुत पाठ से आप कौन सी शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं ?
४—राय कृष्णदास का एक संक्षिप्त परिचय लिखिये और उनके शैली सम्बन्धी प्रधान विशेषताओं का उल्लेख कीजिये।
५—निम्नांकित अवतरणों की व्याख्या कीजिये :—
(अ) प्रकृति बाजीगरनी .... पसारने लगी।
(ब) मेरा बहिर्मुख .... हो उठी।
(स) मैंने भी कहा .... तितर-बितर हो जायगी।

६-भगवान् श्रीकृष्ण

[लेखक—पंडित पद्मसिंह शर्मा]

स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह शर्मा का जन्म सम्वत् १६३३ में नायक-नगला ग्राम जिला बिजनौर में हुआ था। ये हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, फारसी के धुरन्धर विद्वान् थे। प्रारम्भ में इन्होंने 'सत्यवादी', 'परोपकारी' तथा 'अनाथरक्षक' पत्रों का सम्पादन किया। ज्वालापुर महाविद्यालय में वे 'भारतोदय-पत्र' का सम्पादन एवं अध्यापन दोनो ही कार्य सुचारु ढङ्ग से करते रहे। इन्हें हिन्दी, उर्दू, संस्कृत कवियों की सहस्त्रों सूक्तियाँ कंठस्थ थीं। संवत् १६८० में जब इन्होंने पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र कृत 'बिहारी सतसई' की टीका पर 'सतसई-संहार' नामक आलोचना निकाली तो हिन्दी संसार में तहलका मच गया और इनकी धाक सदा के लिये जम गई। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने इन्हें इस कृति पर १२००) का 'मंगलाप्रसाद पुरस्कार' प्रदान किया। तदनन्तर, पाँच वर्ष बाद ये मुजफ्फरपुर में होने वाले साहित्य सम्मेलन के १८ वें अधिवेशन के सभापति बनाये गये। ये हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी प्रयाग में भी व्याख्यान देने के लिये आमन्त्रित किये गये थे। आजीवन साहित्य-सेवा कर ये सम्वत् १६८३ में स्वर्गवासी हुये।

शर्मा जी हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान्, अच्छे निबन्ध लेखक और 'सतसई संहार' द्वारा तुलनात्मक समालोचना के सूत्रपात-कर्त्ता थे। इनकी आलोचनाएँ आकर्षक और चुभते हुए व्यंग्य से ओत-प्रोत हैं। इनकी गद्य रचना सजीव, व्यक्तित्व की छाप वाली एवं उर्दू, फारसी, संस्कृत मिश्रित होती हैं। 'पद्मपराग' और 'प्रबन्ध मञ्जरी' इनके सुन्दर लेख-संग्रह हैं। प्रस्तुत लेख शर्मा जी के 'पद्मपराग' के प्रथम भाग से उद्धृत किया गया है।

भगवान् श्रीकृष्ण इस धराधाम पर पाँच हजार वर्ष पूर्व अवतीर्ण हुये थे। जन्माष्टमी का शुभ पर्व प्रतिवर्ष हमें इस चिरस्मरणीय घटना की याद दिलाता है। आर्य-जाति बड़ी श्रद्धा-भक्ति से इस परम पावन पर्व को मनाती है। विश्व की इस अलौकिक विभूति के गुण-कीर्तन से करोड़ों आर्य जन अपने हृदयों को पवित्र बनाते हैं। अपनी वर्तमान अधोगति में, निराशा के इस भयानक अन्धकार में उस दिव्य जोति को ध्यान की दृष्टि से देखकर सन्तोष-लाभ करते हैं। आज दुःख-दावानल से दग्ध भारतभूमि घनश्याम की अमृत वर्षा की बाट जोहती है। दुःशासन निपीड़ित प्रजा द्रोपदी-रक्षा के लिए कातर स्वर में पुकारती है। धर्म अपनी दुर्गति पर सिर धुनता हुआ 'यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति' की याद दिलाकर प्रतिज्ञा भंग की ओर संकेत कर रहा है। जाति-जननी अत्याचार-कंस के कष्ट-करागार में पड़ी दिन काट रही है, गौएँ अपने 'गोपाल' की याद में प्राण दे रही हैं, जान गँवा रही हैं। इस प्रकार भगवान् के जन्म-दिन का शुभ अवसर भी हमें अपनी मौत का मर्सिया ही सुनाने को विवश कर रहा है। आनन्द बधाई के दिन भी हम अपना दुखड़ा रो रहे हैं, विधि विडम्बना से 'प्रभाती' के

'समय विहाग' अलापना पड़ रहा है। संसार की अनेक जातियाँ क्षुद्र और बहुधा कल्पित आदर्शों के सहारे, उन्नति के शिखर पर आरूढ़ हो गई हैं और हो रही हैं। उत्तम आदर्श उन्नति का प्रधान अवलम्ब है। अवनति के गर्त में पतित जाति के लिये तो आदर्श ही उद्धार-रज्जु है। आर्य जाति के लिये अदर्शों का अभाव नहीं है। सब प्रकार के एक से एक बढ़कर आदर्श सामने हैं। संसार की अन्य किसी जाति ने इतने आदर्श नहीं पाये, फिर भी—इतने महत्वशाली आदर्श पाकर भी—आर्य-जाति क्यों नहीं उठती? यही नहीं कभी-कभी तो 'आदर्शवाद' ही दुर्दशा का कारण बन जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण संसार भर के आदर्शों में सर्वाङ्गपूर्ण आदर्श हैं। इसी कारण हिन्दू उन्हें सोलह-कला सम्पूर्ण अवतार 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' मानते हैं। अवतार न मानने वाले भी उन्हें आदर्श योगिराज, कर्म योगी, सर्वश्रेष्ठ महापुरुष कहते हैं। मनुष्य जीवन को सार्थक बनाने के लिये जो आदर्श अपेक्षित हैं वे सब स्पष्ट रूप में प्रचुर परिमाण में श्रीकृष्ण चरित्र में विद्यमान हैं। ध्यानी, ज्ञानी, योगी, कर्मयोगी, नीति-धुरन्धर, नेता और महारथी योद्धा, जिस दृष्टि से देखिये, जिस कसौटी पर कसिये, श्रीकृष्ण अद्वितीय ही प्रतीत होंगे। संस्कृत-भाषा का साहित्य कृष्ण चरित्र की महिमा से भरा पड़ा है। दुर्भाग्य से हम उसके तत्व को हृदयंगम नहीं करते। हम 'आदर्श' का अनुकरण करना नहीं चाहते, उल्टा उसे अपने पीछे घसीटना चाहते हैं और यही हमारी अधोगति का कारण है। यदि हम कर्मयोगी भगवान् श्रीकृष्ण के आदर्श का अनुकरण करते तो आज इस दयनीय दशा में न होते। महाभारत के श्रीकृष्ण को भूलकर 'गीत-गोविन्द' के कृष्ण का काल्पनिक चित्र निर्माण करके उस आदर्श महापुरुष को 'चोरजार शिखामणिः' की उपाधि दे डाली है। पतन की परा-

काष्ठा है ! कृष्ण-चरित्र के सर्वश्रेष्ठ लेखक श्री बंकिमचन्द ने एक जगह खिन्न होकर लिखा है—

"जब से हम हिन्दू अपने आदर्श को भूल गये और हमने कृष्ण-चरित्र को अवनत कर लिया तब से हमारी सामाजिक अवनति होने लगी। जयदेव (गीतगोविन्द निर्माता) के कृष्ण की नकल करने में सब लग गये, पर 'महाभारत के कृष्ण' को कोई याद भी नहीं करता।"

श्रीकृष्ण को हिन्दू जाति क्या समझ बैठी है, इसका उल्लेख श्री बंकिमचन्द्र ने इस प्रकार किया है—

"पर अब प्रश्न यह उठता है कि भगवान् को हम लोग क्या समझते हैं। यही कि बचपन में वे चोर थे, दूध, दही, मक्खन चुराकर खाया करते थे। युवा अवस्था में वे दुराचारी थे और प्रौढ़ावस्था में वंचक और शठ थे। उन्होंने धोखा देकर कर्ण द्रोणादि के प्राण लिये। क्या इसी का नाम मानव चरित्र है ? जो केवल शुद्ध तत्व है, जिससे सब प्रकार की शुद्धियाँ होती हैं और पाप दूर होते हैं, उसका मनुष्य-देह धारण कर समस्त पापाचरण करना क्या भगवच्चरित्र है ?

"सनातन धर्म द्वेषी कहा करते हैं कि भगवच्चरित्र की ऐसी कल्पना करने के कारण भी भारत में पाप का स्रोत बढ़ गया है। इसका प्रतिवाद कर किसी को भी जय प्राप्त करते नहीं देखा है। मैं श्रीकृष्ण को स्वयं भगवान मानता हूँ और उन पर विश्वास करता हूँ। अँग्रेजी शिक्षा से मेरा यह विश्वास और भी दृढ़ हो गया है। और इतिहास में श्रीकृष्णचन्द्र के चरित्र का वास्तव में कैसा वर्णन है यह जानने के लिये मैंने जहाँ तक बना इतिहास और पुराणों का मन्थन किया। इसका फल यह हुआ कि श्री कृष्णचन्द्र के विषय में जो पाप-कथायें प्रचलित हैं वे अमूलक जान पड़ीं। उपन्यासकारों ने श्रीकृष्ण के विषय में जो मनगढ़न्त

बातें लिखी हैं उन्हें निकाल देने पर जो कुछ बचता है वह अति विशुद्ध, परम पवित्र, अतिशय महान् मालूम हुआ है। मुझे यह भी मालूम हो गया है कि ऐसा सर्वगुण-सम्पन्न और सर्वपापरहित आदर्श चरित्र और कहीं नहीं है—न किसी देश के इतिहास में, और न किसी काव्य में।"

श्रीकृष्ण चरित्र का मनन करने वालों को श्री बंकिमचन्द्र की उक्त सम्मतियों पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्र के रहस्य को अच्छी तरह समझ कर उसके आधार पर यदि हम अपने जाति-जीवन का निर्माण करें तो सारे संकट दूर हो जायँ। उदाहरण के तौर पर नेताओं को लीजिये। आज-कल हमारे देश में नेताओं की बाढ़ आई है, जिसे देखिये वह 'सार्वभौम नेता' नहीं तो अखिल भारतीय नेता है। इस बाढ़ को देखकर चिन्ता के स्वर में कहना पड़ता है—

लीडरों की धूम है, और फालोवर कोई नहीं।
सब तो जनरल हैं यहाँ, आखिर सिपाही कौन है ?

पर उनमें कितने हैं, जिन्होंने आदर्श नेता श्रीकृष्ण के चरित्र से शिक्षा ग्रहण की है ? नेता नितान्त निर्भय, परम निष्पक्ष और विचारों का शुद्ध होना चाहिये, ऐसा कि संसार की कोई विपत्ति या प्रलोभन उसे किसी दशा में भी अपने व्रत से विचलित न कर सके।

महाभारत के युद्ध की तैयारियाँ हो चुकी हैं, सन्धि के सारे प्रयत्न निष्फल हो चुके हैं, धर्मराज युधिष्ठिर का कोमल-हृदय युद्ध के अवश्यम्भावी दुष्परिणाम को सोच कर विचलित हो रहा है—इस दशा में भी वे सन्धि के लिये व्याकुल हैं। बड़ी ही कठिन समस्या उपस्थित है। श्रीकृष्ण स्वयं सन्धि के पक्ष में थे। सन्धि के प्रस्ताव को लेकर उन्होंने स्वयं ही दूत बनकर जाना उचित समझा। दुर्योधन जैसे स्वार्थान्ध, कपट कुशल और जीते

जुआरी के दरबार में ऐसे अवसर पर दूत बनकर जाना जान से हाथ धोना, दहकती हुई आग में कूदना था। श्रीकृष्ण के दूत बन जाने के प्रस्ताव पर सहसा कोई सहमत न हुआ। दुर्योधन की कुटिलता और क्रूरता के विचार से श्रीकृष्ण का वहाँ जाना किसी ने उचित न समझा। इस पर वाद-विवाद हुआ। उद्योग-पर्व का यह प्रकरण 'भगवद्यानपर्व' बड़ा अद्भुत और हृदयहारी है, जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण के संधि प्रस्ताव को लेकर जाने का वर्णन है। श्रीकृष्ण जानते थे कि सन्धि प्रस्ताव में सफलता न होगी, दुर्योधन किसी की मानने वाले जीव नहीं है, यात्रा आपद्जनक है, प्राण-संकट की सम्भावना है, परन्तु कर्त्तव्यानुरोध से जान पर खेलकर भी उन्होंने वहाँ जाना ही उचित समझा।

दुर्योधन को जब मालूम हुआ कि श्रीकृष्ण आ रहे हैं तो उसने श्रीकृष्ण को साम, दाम, दण्ड, भेद द्वारा जाल में फँसाने का कोई उपाय उठा न रक्खा। मार्ग में जगह-जगह उनके स्वागत का धूम-धाम से प्रबन्ध किया गया। रास्ते की सड़कें खूब सजाई गई। दुर्योधन जानता था कि सब कुछ श्रीकृष्ण के हाथ में है, जो वे चाहेंगे वही होगा। उनकी आज्ञा से पाण्डव अपना सर्वस्व-त्याग कर सकते हैं, श्रीकृष्ण को काबू में कर लिया जाय तो बिना युद्ध के ही विजय हो सकती है। श्रीकृष्ण के बलबूते पर ही पाण्डव युद्ध के लिये सन्नद्ध हो रहे हैं। निदान दुर्योधन ने श्रीकृष्ण को फँसाने की प्राणपण से चेष्टा की। पर 'अच्युत' श्रीकृष्ण अपने लक्ष्य से कब चूकने वाले थे। सन्धि का प्रस्ताव स्वीकृत न हुआ। दुर्योधन, कर्ण, शकुनि आदि अपने साथियों के साथ सभा से उठकर चला गया। जब उसने साम-दाम से काम बनते न देखा तो आवश्यक दण्ड देने—कैद कर लेने—का षड्यन्त्र रचा, उन्हें अपने घर निमन्त्रित किया। दुर्योधन की इस

दुरभिसंधि को विदुर आदि दूरदर्शी ताड़ गये। उन्होंने श्रीकृष्ण को वहाँ जाने से रोका। श्रीकृष्ण स्वयं भी सब कुछ समझते थे, पर वे जिस काम के लिये आये थे उसके लिये एक बार फिर प्राणपण से प्रयत्न करना ही उन्होंने उचित समझा। वे दुर्योधन के घर पहुँचे पर निर्भयतापूर्वक संधि का औचित्य समझाया। पांडवों की निर्दोषता, दुर्योधन का अन्याय प्रमाणित किया; पर दुर्योधन किसी तरह न माना। श्रीकृष्ण उसे फटकार कर चलने लगे, दुर्योधन ने भोजन के लिये आग्रह किया। इस पर जो उचित उत्तर भगवान नें दिया वह उन्हीं के योग्य था। कहा कि—

"सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानि ह्यापद्भोज्यानि वा पुनः।
न च सम्प्रीतियसे राजन् न चैवापद्गता वयम्॥"

अर्थात् या तो प्रीति के कारण किसी के यहाँ भोजन किया जाता है, या फिर विपत्ति में—दुर्भिक्ष संकट में। तुम हमसे प्रेम नहीं करते और हम पर कोई ऐसी आपत्ति नहीं आई है, ऐसी दशा में तुम्हारा भोजन कैसे स्वीकार करें ?

इस प्रत्याख्यान से क्रुद्ध होकर दुर्योधन ने उन्हें घेर कर पकड़ना चाहा, पर भगवान् श्रीकृष्ण के अलौकिक तेज और दिव्य पराक्रम नें उसे परास्त कर दिया, वह अपनी धृष्टता पर लज्जित होकर रह गया। हमारे नेता लोग भगवान के इस आचरण से शिक्षा ग्रहण करें तो उनका और लोक का कल्याण हो।

पांडव और कौरव दोनों ही श्रीकृष्ण के सम्बन्धी थे, दोनों ही उन्हें अपने पक्ष में लाने के लिये समान रूप से प्रयत्नशील थे। 'लोक संग्रह' के तथ्य से भी भगवान् अनभिज्ञ न थे, पर उन्होंने सर्वप्रियता के मोह में पड़कर न्याय को अन्याय और धर्म को अधर्म नहीं बताया। निरपराध को अपराधी बताकर अपनी, 'दर्शिता' या समउदारता का परिचय नहीं दिया।

श्रीकृष्ण अपने प्राणों का मोह छोड़कर दुर्योधन को समझाने गये और भयानक संकट के भय से भी कर्त्तव्य-पराङ्मुख न हुये ।

आर्य जाति के नेता और शिक्षित सेवक श्रीकृष्ण-चरित्र को अपना आदर्श मानकर यदि अपने चरित्र का निर्माण करें तो देश और जाति का उद्धार करने में समर्थ हो सकेंगे । परमात्मा ऐसा ही करे ।

अभ्यास के लिये

१—भगवान श्रीकृष्ण किन कारणों से संसार भर के आदर्शों में सर्वाङ्गपूर्ण आदर्श हैं ?

२—श्रीकृष्ण सोलह कलापूर्ण अवतार हैं—इसे भली-भाँति समझाइये ।

३—श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में बंकिमचन्द्र चटर्जी की क्या धारणा है ?

४—श्रीकृष्ण के चरित्र से कौन-कौन सी शिक्षा प्राप्त होती है

५—पंडित पद्मसिंह के विषय में एक परिचयात्मक लेख लिखिये । और उनकी शैली की विशेषताएँ बतलाइये ।

१०—आत्मसंस्कार और सङ्गति

[लेखक—पं० रामचन्द्र शुक्ल]

आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के उद्भट विद्वान, उत्कृष्ट समालोचक, मौलिक निबन्धकार, गम्भीर लेखक एवं सुकवि हैं । इनका जन्म बस्ती जिला के आगोना ग्राम में सम्वत् १६४१ में हुआ था। इन्होंने कालेज में रहकर एफ० ए० तक शिक्षा प्राप्त की थी, किन्तु स्वाध्याय से आपने हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी आदि भाषाओं पर अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया था । मिशन स्कूल मिर्जापुर में अध्यापन कार्य करने के बाद सम्वत् १६६५ में आप काशी आये और शब्दासागर के सहकारी सम्पादक नियुक्त हुए । "काशी-नागरी-प्रचारिणी पत्रिका" का कई वर्ष तक आपने

सम्पादन भी किया और फिर हिन्दू विश्वविद्यालय में मृत्यु-पर्यन्त हिन्दी-अध्यापक का कार्य करते रहे।

शुक्ल जी हिन्दी के आलोचक सम्राट् हैं। हिन्दी में वैज्ञानिक ढङ्ग की समीक्षा का प्रारम्भ इन्हीं के लेखों से हुआ है। जायसी, तुलसी और सूर पर लिखे हुए आलोचनात्मक निबन्ध सर्वमान्य हैं। इनका हिन्दी-साहित्य का इतिहास अत्यन्त सुन्दर मौलिक ग्रन्थ है, जिसके अनुकरण पर हिन्दी में अनेक पुस्तकें लिखी गईं और लिखी जा रही हैं। हिन्दुस्तानी एकेडमी द्वारा शुक्ल जी को इस पुस्तक पर ५००) का पुरस्कार भी मिला था। उनके मनोवैज्ञानिक लेखों का संग्रह 'चिन्तामणि नाम से छपा है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने आपकी इस पुस्तक पर 'मङ्गला प्रसाद पारितोषिक' प्रदान किया है। 'काव्य में रहस्यवाद' आपकी एक आलोचना की पुस्तक है। बुद्धचरित्र, शशांक आपके सुन्दर अनुवाद ग्रन्थ हैं। हृदय का मधुर भार, वसन्त, पथिक इत्यादि आपकी प्रसिद्ध-कविताएँ हैं जिनमें प्रकृति का वर्णन बहुत ही सुन्दर है।

शुक्ल जी गम्भीर प्रकृति के लेखक हैं। आपकी गद्य-शैली पर आपके व्यक्तित्व की अनोखी छाप है। आपकी लेखन-शैली ठोस और संक्षिप्त है। मननशीलता एवं उद्भावना इसकी प्रधान विशेषताएँ हैं। आपकी भाषा संस्कृत-निष्ठ है। मुहावरों और कहावतों का आपने बहुत ही कम प्रयोग किया है। आपने उर्दू शब्दों का भी कहीं-कहीं प्रयोग किया है जिससे आपके वाक्यों में अपूर्वता आ गई है। आपका वाक्य-संगठन बड़ा ही सुन्दर है। विराम चिन्हों का प्रयोग आपने बड़ी ही सतर्कता से किया है।

यह लेख 'आत्मसंस्कार और सङ्गति', 'आदर्श जीवन' नामक पुस्तक से उद्धृत किया गया है।

संगीत का गुप्त प्रभाव हमारे आचरण पर बड़ा भारी पड़ता है। जो आदमी आत्मसंस्कार में लगा हो उसे अपने मिलने वालों

के आचरण पर भी दृष्टि रखनी चाहिये, उसे यह ध्यान रखना चाहिये कि उनकी बुद्धि और उनका आचरण ठिकाने का है। साधारणतः हमें अपने ऊपर ऐसे प्रभावों को न पड़ने देना चाहिये जिनसे हमारी विवेचना की गति मन्द हो व भले-बुरे का विवेक क्षीण हो। जीवन का उद्देश्य क्या है? वह भविष्य के लिये आयोजन का स्थान नहीं है? क्या वह तुम्हारे हाथ में सौंपा हुआ ऐसा पदार्थ नहीं है जिसका लेखा तुम्हें परमात्मा को और अपनी आत्मा को देना होगा? सोचो तो कि दो, चार, दस जितने गुण तुम्हें दिये गये है, उन्हें तुम्हें देने वाले को पचास गुने सौ गुने करके लौटाना चाहिये। अथवा ज्यों के त्यों विना व्याज व वृद्धि के। यदि जीवन एक प्रहसन ही है जिसमें तुम गा-वजाकर हँसी-ठट्ठा करके समय काटो, तब जो कुछ उसके महत्व के विषय में मैंने कहा है, सब व्यर्थ ही है। पर जीवन में गम्भीर बातें और विपत्ति के दृश्य भी हैं। मेरी समझ में तो महाराणा प्रताप की भाँति संकट में दिन काटना वाजिद अली शाह की भाँति भोग-विलास करने से अच्छा है। मेरी समझ में शिवाजी के सवारों की तरह चने बाँधकर चलना, औरङ्गजेब के सवारों की तरह हुक्के और पानदान के साथ चलने से अच्छा है। मैं जीवन को न तो दुःखमय और न सुखमय बतलाना चाहता हूँ, बल्कि उसे एक ऐसा अवसर समझता हूँ जो हमें कुछ कर्त्तव्यों के पालन के लिए दिया गया है, जो हमें परलोक के लिये कुछ कमाई करने के लिए दिया गया है। हमारे सामने ऐसे बहुत से लोगों के दृष्टांत हैं जिनके विचार भी महान् थे, कर्म भी महान् थे।

हमें सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि हम कैसा साथ करते हैं। दुनिया तो जैसी हमारी सङ्गत होगी, वैसा ही समझेगी ही, पर हमें अपने कामों में भी संगत के अनुसार सहायता

व बाधा पहुँचेगी। उसका चित्त अत्यन्त दृढ़ समझना चाहिये जिसकी चित्त-वृत्ति पर उन लोगों का कुछ भी प्रभाव न पड़े जिनका बराबर साथ रहता है। पर अच्छी तरह समझ रक्खो कि यह कभी हो नहीं सकता। चाहे तुम्हें जान न पड़े, पर उनका प्रभाव तुम पर बराबर हर घड़ी पड़ता रहेगा और उसी के अनुसार तुम उन्नत व अवनत होगे, उत्साहित व हतोत्साहित होगे। एक विद्वान से पूछा गया—"जीवन में किस शिक्षा की सब से अधिक आवश्यकता है?" उसने उत्तर दिया—"व्यर्थ की बातों को जानकर भी अनजान होना। यदि हम जान-पहचान करने में बुद्धिमानी से काम न लेंगे तो हमें बराबर अनजान बनना पड़ेगा।

महामति बेकन कहता है—"समूह का नाम संगत नहीं है। जहाँ प्रेम नहीं है, वहाँ लोगों की आकृतियाँ चित्रवत् हैं और उनकी बात-चीत झाँझ की झनकार है।" पहचान करने में हमें कुछ स्वार्थ से काम लेना चाहिये। जान-पहचान के लोग ऐसे हों जिनसे हम कुछ लाभ उठा सकते हों, जो हमारे जीवन को उत्तम और आनन्दमय करने में कुछ सहायता दे सकते हों, यद्यपि उतनी नहीं जितनी गहरे मित्र दे सकते हैं। मनुष्य का जीवन थोड़ा है उसमें खोने के लिये समय नहीं। यदि क ख और ग हमारे लिए कुछ नहीं कर सकते हैं, न कोई बुद्धिमानी वा विनोद की बातचीत कर सकते हैं, न कोई अच्छी बात बतला सकते हैं, न अपनी सहानुभूति द्वारा हमें ढाढ़स बँधा सकते हैं, न हमारे आनन्द में सम्मिलित हो सकते हैं, न हमें कर्त्तव्य का ध्यान दिला सकते हैं, तो ईश्वर हमें उनसे दूर ही रखे, हमें अपने चारों ओर जड़ मूर्तियाँ सजाना नहीं है। आजकल जान-पहचान बढ़ाना कोई बड़ी बात नहीं है। कोई भी युवा पुरुष ऐसे अनेक युवा पुरुषों को पा सकता है जो उसके साथ थिएटर देखने जायँगे, नाच रङ्ग में

जायेंगे, सैर-सपाटे में जायेंगे, भोजन का निमंत्रण स्वीकार करेंगे। यदि ऐसे जान-पहचान के लोगों से कुछ हानि न होगी तो लाभ भी न होगा। पर यदि हानि होगी तो बड़ी भारी होगी। सोचो तो, तुम्हारा जीवन कितना नष्ट होगा, यदि वे जान-पहचान के लोग उन मनचले युवकों में से निकलें जिनकी संख्या दुर्भाग्यवश आजकल बहुत बढ़ रही है। यदि उन शोहदों में से निकलें जो अमीरों की बुराइयों और मूर्खताओं की नकल करते हैं, दिन रात बनाव-सिंगार में रहा करते हैं, कुलटा स्त्रियों के फोटो मोल लिया करते हैं, महफिलों में 'अ हो हो, वाह', किया करते हैं गलियों में ठट्ठा मारते हैं और सिगरेट का धुआँ उड़ाते चलते हैं। ऐसे नवयुवकों से बढ़कर शून्य निःसार और शोचनीय जीवन और किसका है ? वे अच्छी बातों के सच्चे आनन्द से कोसों दूर हैं। उनके लिए तो संसार में न सुन्दर और मनोहर उक्तिवाले कवि हुये हैं और न सुन्दर आचरणवाले महात्मा हुए हैं उनके लिये तो बड़े-बड़े वीर न अद्भुत कर्म कर गये हैं और न बड़े ग्रन्थकार ऐसे विचार छोड़ गये हैं जिनसे मनुष्य जाति के हृदय में सात्विकता की उमंगें उठती हैं। उनके लिए फूलपत्तियों में कोई सौंदर्य्य नहीं, झरनों के कलकल में मधुर संगीत नहीं, अनन्त सागर तरङ्गों में गम्भीर रहस्यों का आभास नहीं, उनके भाग्य में सच्चे प्रयत्न और पुरुषार्थ का आनन्द नहीं, उनके भाग्य में सच्ची प्रीति का सुख और कोमल हृदय की शान्ति नहीं। जिनकी आत्मा अपने इन्द्रिय-विषयों में ही लिप्त है, जिनका हृदय नीच आशाओं और कुत्सित विचारों से कलुषित है, ऐसे नाशोन्मुख प्राणियों को दिन-दिन अन्धकार में पतित होते देख कौन ऐसा होगा जो तरस न खायगा ? जिसने स्वसंस्कार का विचार अपने मन में ठान लिया हो उसे ऐसे प्राणियों का साथ न करना चाहिये। मकदूनिया

का बादशाह डेमेट्रियस कभी-कभी राज्य का सब काम छोड़ अपने ही मेल के दस-पाँच साथियों को लेकर विषय-वासना में लिप्त रहा करता था। एक बार बीमारी का बहाना करके इसी प्रकार वह अपने दिन काटता रहा था। इसी बीच उसका पिता उससे मिलने के लिये गया और उसने एक हँसमुख जवान को कोठरी से बाहर निकलते देखा। जब पिता कोठरी के भीतर पहुँचा, तब डेमेट्रियस ने कहा—"ज्वर ने मुझे अभी छोड़ा है।" पिता ने कहा—"हाँ! ठीक है, वह दरवाजे पर मुझे मिला था।"

कुसङ्ग का ज्वर सब से भयानक होता है। यह केवल नीति और सद्वृत्ति का ही नाश नहीं करता, बल्कि बुद्धि का भी क्षय करता है। किसी युवा पुरुष की सङ्गत यदि बुरी होगी, तो वह उसके पैर में बँधी चक्की के समान होगी जो उसे दिन-दिन अवनति के गढ़े में गिराती जायगी; और यदि अच्छी होगी तो सहारा देने वाली बाहु के समान होगी जो उसे निरन्तर उन्नति की ओर उठाती जायगी।

बहुत से लोग ऐसे हैं जिनके घड़ी भर के साथ से भी बुद्धि भ्रष्ट होती है, क्योंकि उतने ही बीच में ऐसी-ऐसी बातें कही जाती हैं जो कानों में न पड़नी चाहिये, चित्त पर ऐसे-ऐसे प्रभाव पड़ते हैं जिनसे उनकी पवित्रता का नाश होता है। बुराई अटल भाव धारण करके बैठती है। बुरी बातें हमारी धारणा में बहुत दिनों तक टिकती हैं। इस बात को प्रायः सब लोग जानते हैं कि भद्दी दिल्लगी व फूहड़ गीत जितनी जल्दी ध्यान पर चढ़ते हैं, उतनी जल्दी कोई गम्भीर व अच्छी बात नहीं। एक बार एक मित्र ने मुझसे कहा कि उसने लड़कपन में कहीं से एक बुरी कहावत सुन पाई थी जिनका ध्यान वह लाख चेष्टा करता है कि न आये पर बार-बार आता है। जिन

भावनाओं को हम दूर रखना चाहते हैं, जिन बातों को हम याद नहीं करना चाहते, वे वार-वार हृदय में उठती हैं और वेधती हैं। अतः तुम पूरी चौकसी रक्खो, ऐसे लोगों को कभी साथी न बनाओ जो अश्लील, अपवित्र और फूहड़ बातों से तुम्हें हँसाना चाहें। सावधान रहो। ऐसा न हो कि पहले-पहल तुम इसे एक बहुत सामान्य बात समझो और सोचो कि एक बार ऐसा हुआ, फिर ऐसा न होगा, अथवा तुम्हारे चरित्र-बल का ऐसा प्रभाव पड़ेगा कि ऐसी बात बकने वाले आगे चलकर आप सुधर जायँगे। नहीं,' ऐसा नहीं होगा। जब एक बार मनुष्य अपना पैर कीचड़ में डाल देता है, तब फिर यह नहीं देखता कि वह कहाँ और कैसी जगह पैर रखता है। धीरे-धीरे उन बुरी बातों से अभ्यास होते-होते तुम्हारी घृणा कम हो जायगी। पीछे तुम्हें उनसे चिढ़ न मालूम होगी, क्योंकि तुम यह सोचने लगोगे कि चिढ़ने की बात क्या है। तुम्हारा विवेक कुण्ठित हो जायगा और तुम्हें भले-बुरे की पहिचान न रह जायगी। अन्त में होते-होते तुम भी बुराई के भक्त बन जाओगे। अतः हृदय को उज्ज्वल रखने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि बुरी संगत की छूत से बचो। यह पुरानी कहावत है कि—

> काजल की कोठरी में कैसो हू सयानो जाय
> एक लीक काजर की लागि है पै लागि है।

जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे यह न समझना चाहिये कि मैं युवा पुरुषों को समाज में प्रवेश करने से रोकता हूँ। नहीं. कदापि नहीं। अच्छा समाज यदि मिले तो उसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है और उससे आत्म-संस्कार के कार्य में बड़ी सहायता मिलती है। प्रायः देखने में आता है कि गाँवों से जो लोग नगरों में जीविका आदि के लिये आते हैं, उनका जी बहुत दिनों

तक, संगी-साथी न रहने से, वहुत घबराता है और कभी-कभी उन्हें ऐसे लोगों का साथ कर लेना पड़ता है जो उनकी रुचि के अनुकूल नहीं होते। ऐसे लोगों के लिए अच्छा तो यह होता है कि वे किसी साहित्य-समाज में प्रवेश करें। पर वहाँ भी उन्हें उन सब बातों की जानकारी नहीं प्राप्त हो सकती जो स्व-शिक्षा के लिये आवश्यक है। समाज में प्रवेश करने से हमें अपना यथार्थ मूल्य विदित होता है। हम देखते हैं कि हम उतने चतुर नहीं हैं जितने एक कोने में वैठकर कोई पुस्तक आदि हाथ में लेकर अपने को समझा करते थे। भिन्न-भिन्न लोगों में भिन्न-भिन्न प्रकार के गुण होते हैं। यदि कोई एक बात में निपुण है तो दूसरा दूसरी में। समाज में प्रवेश करके हम देखते हैं कि इस बात की कितनी आवश्यकता है कि लोग हमारी भूलों को क्षमा करें, अतः हम दूसरों की भूल-चूक को क्षमा करना सीखते हैं। हम कई ठोकरें खाकर नम्रता और अधीनता का पाठ सीखते हैं। इनके अतिरिक्त और भी बड़े-बड़े लाभ होते हैं। समाज में सम्मिलित होने से हमारी समझ बढ़ती है, हमारी विवेक बुद्धि तीव्र होती है, वस्तुओं और व्यक्तियों के सम्बन्ध में हमारी धारणा विस्तृत होती है, हमारी सहानुभूति गहरी होती है, हमें अपनी शक्तियों के उपयोग का अभ्यास होता है। समाज एक परेड है जहाँ हम चढ़ाई करना सीखते हैं, अपने साथियों के साथ-साथ मिलकर बढ़ना और आज्ञा पालन करना सीखते हैं, इनसे भी बढ़कर और बातें हम सीखते हैं, हम दूसरों का ध्यान रखना, उनके लिये कुछ स्वार्थ-त्याग करना सीखते हैं, सद्गुणों का आदर करना और सुन्दर चाल-ढाल की प्रशंसा करना सीखते हैं। स्वसंस्काराभिलाषी युवक को उस चाल-व्यवहार की अवहेलना न करनी चाहिये जो भले आदमियों के समाज में आवश्यक समझी जाती है। बड़ों के प्रति सम्मान और सरलता का व्यवहार, बराबर वालों से प्रसन्नता का

व्यवहार और छोटों के प्रति कोमलता का व्यवहार भले-मानुसों के लक्षण हैं। सुडौल और सुन्दर वस्तु को देखकर हम लोग प्रसन्न होते हैं। सुन्दर चाल-ढाल को देखकर हम सब लोग आनन्दित होते हैं मीठे वचनों को सुनकर हम सब लोग संतुष्ट होते हैं। ये सब बातें हमें मनोनीत होती हैं। किसी भले आदमी को यह कहते सुनकर कि फटी, पुरानी और मैली पुस्तक हाथ में लेकर पढ़ते नहीं बनता हमें हँसना नहीं चाहिये। सोचो तो कि तुम्हारी मंडली में कोई उजड्ड गँवार आकर फूहड़ बातें बकने लगे तो तुम्हें कितना बुरा लगेगा।

युवा पुरुषों को बुरे अनुभवों से बचने के लिये सब से सीधा और सुगम उपाय सत्संग है। अच्छे आदमियों के समाज में बैठने से जहाँ परस्पर प्रेम और शांति का आनन्द रहता है, बड़ी भारी रक्षा रहती है। यह निश्चय समझना चाहिये कि ऐसे बहुत कम मनुष्य मिलेंगे जो पहले-पहल प्रसन्नता के साथ बुराइयों में फँसते हों तथा संसार की बुराइयों का अनुभव प्राप्त करते हुए जो कुछ हिचकते न हों और जिनके जी में कुछ खटका न होता हो। मुझे पूरा विश्वास है कि अधिकांश युवा पुरुष जब पहले-पहल कुमार्ग पर पैर रखते हैं; तब यदि संसार में कोई उनका हाथ पकड़ने वाला हो तो वे उससे हट सकते हैं। संसार में सब प्रकार के रंग में रहने का उपदेश तो बहुत लोग किया करते हैं और बहुत से लोग विषय-मद में मत्त भी होते हैं, पर अपनी इस मौज से आगे चल कर वे ऊब जाते और सौ में निन्नानबे मनुष्य इस मौज की लीक ग्लानि और घृणा के साथ पीटते चले जाते हैं, उन्हें उसमें कोई आनन्द नहीं रह जाता और अन्त में उनकी आत्मा इतनी जड़ हो जाती है कि उसमें सत्य और सौन्दर्य का कुछ भी अनुभव नहीं रह जाता। पर इस पतित दशा में पड़ने

के पहले मनुष्य अच्छी बातों के लिये छटपटाता अवश्य है और उसका यह छटपटाना सफल हो सकता है, यदि वह इस संसार के कलुषित अँधेरे मार्ग से निकलकर किसी अच्छे परिवार व अच्छे समाज में पड़ जाय।

हमारे बड़े नगरों के युवक साधारणतः दो भाग में बाँटे जा सकते हैं—एक वे जिन्होंने लड़कपन में कुछ धर्म-सम्बन्धी शिक्षा पाई, दूसरे वे जिन्होंने संसार के व्यवहारों में प्रवेश करने के पहले इस प्रकार की तैयारी नहीं की। पहले प्रकार के लोगों के लिए तो कथा-वार्त्ता, धर्मोपदेश आदि साधन मिल जाते हैं जिनसे चित्त पर घर ही का संस्कार बना रहता है। उनके लिए किसी नये यंत्र की आवश्यकता नहीं होती। जो यंत्र उनके पास रहता है, उसी के स्वच्छंद उपयोग की आवश्यकता होती है। धर्मोपदेशक को युवा पुरुषों को बहुत खोज-खबर रखनी चाहिये, उन्हें कुमार्ग से बचाने का उद्योग करना चाहिये, उनकी सहायता के लिये प्रत्येक समय उद्यत रहना चाहिये। माता-पिता को भी चाहिये कि युवकों को घर से बाहर किसी अन्य स्थान पर भेजते समय ऐसा प्रबंध करें कि उनके चित्त का संस्कार शुद्ध रहे। हमारे युवा पुरुष चाहे जिस नगर में जायँ, उन्हें धर्म-चर्चा सुनने का अवसर मिल सकता है, धार्मिक सज्जनों की मंडली मिल सकती है, क्योंकि भारत के ऐसा धार्मिक देश दूसरा नहीं।

अब रह गये दूसरे वर्ग के लोग जिन्होंने परिवार में सच्चा सुख नहीं प्राप्त किया है, जो किसी कारणवश धार्मिक संस्कार से वंचित रहे हैं। ऐसों के लिए तो कोई उपाय बताना कठिन है। आत्मसंस्कार का प्रयत्न यदि हृदय से करें तो ऐसे युवा पुरुष भी दुष्ट प्रलोभन से बच सकते हैं पर उनके लिए सबसे अच्छा उपाय यही है कि वे सत्संग करें। सत्संग का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। इसमें से बहुत से लोग तो समाज और साहित्य-संस्थाओं में

सम्मिलित होकर अपने समय का उपयोग कर सकते हैं और बुराइयों में पड़ने से बचे रह सकते हैं। पर बहुत से ऐसे निकलेंगे जिनकी सभा-समाजों की ओर प्रवृत्ति नहीं होती, जिन्हें धर्मोपदेश अच्छे नहीं लगते, जो अधिक चहल-पहल और मजेदारी की बातें चाहते हैं। बहुत से युवा पुरुष जो गलियों में टेढ़ी टोपी देकर निकलते हैं, जो अश्लील ठुमरी-ठप्पा गाते चलते हैं, जो दिन-रात शतरञ्ज-गञ्जीफा खेलते रहते हैं, जो दुनियाँ में सब तरह के मजे उठाने का दम भरते हैं, जो मेलों तमाशों में खूब बन-ठन के निकलते हैं, जो महफिलों में बिना बुलाये पहुँचते हैं, उनके लिये क्या किया जा सकता है? वे समाज के कोढ़ हैं, वे उसी प्रकार भयंकर हैं, जिस प्रकार चोर और डाकू जिनके पीछे पुलिस तैनात रहती है। वे समाज में बड़े-बड़े अनर्थों का सूत्रपात करते हैं।

अभ्यास के लिये

१—आत्म-संस्कार के अभिलाषी युवकों को कैसे लोगों की संगति रखनी चाहिये ?

२—नाना प्रकार के लोगों से मिलने से युवा पुरुष को क्या लाभ होता है ? विस्तार-सहित समझाइये।

३—निम्नांकित वाक्यों के भाव को भली-भाँति समझाइये।

(क) कुसंग का ज्वर भयानक होता है।

(ख) बुराई हमारी धारणा में बहुत दिनों तक टिकती है।

४—बुरे प्रभाव से बचने का सरल उपाय क्या है ?

५—सत्संग के प्रभाव और महत्व पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

६—पं० रामचन्द्र शुक्ल की गद्य-शैली एवं रचनाओं पर एक निबन्ध लिखिये।

११—सच्ची शांति

[लेखक—श्री सुदर्शन]

श्री सुदर्शन जी का जन्म पंजाब में सन् १८६५ में हुआ था। आप कहानी लिखने में सिद्धहस्त हैं और प्रेमचन्द्र जी के बाद आपको ही कहानी संसार में इतनी अधिक ख्याति प्राप्त हुई है। प्रेमचन्द और इनमें बहुत कुछ समानता है। दोनों ही सर्वप्रथम उर्दू लेखक थे, तत्पश्चात् हिन्दी की ओर आकृष्ट हुये। कहानियों के अतिरिक्त इन्होंने 'भगवती' और 'परिवर्तन' उपन्यास तथा 'अंजना' नाटक की भी रचना की है। आपके कुछ एकांकी नाटक भी प्रकाशित हो चुके हैं, परन्तु जो सफलता आपको कहानी क्षेत्र में प्राप्त है, वह अन्यत्र प्राप्त नहीं हो सकी। आपकी कहानियों में समाज का सुन्दर एवं मार्मिक चित्रण होता है। व्यंग्य एवं हास्य आपकी अनेक कहानियां की जान है। आपकी वर्णन-शैली में चित्र की सजीवता प्रदान करने की अपूर्व क्षमता है। आपकी शैली सरल, सुबोध एवं आडम्बर-विहीन है। आपकी भाषा सुन्दर, मुहावरेदार तथा उर्दू की चाशनी लिए हुए है। सिद्धान्त की दृष्टि से आप आदर्शवादी कहानीकार हैं। आपकी कहानियाँ हिन्दी के सुप्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं और 'पुष्पलता', 'सुदर्शन सुधा', 'तीर्थयात्रा'—प्रभृति आपके कहानी-संग्रह पुस्तक के रूप में भी निकल चुके हैं। इधर आपने व्यावसायिक फिल्म-कम्पनियों के लिये भी साहित्य-निर्माण किया है। 'सच्ची शान्ति' शीर्षक कहानी आपकी एक उत्कृष्ट रचना है।

---

[१]

वे तीन भाई थे—सुचालू, बालू और पालू। सुचालू गवर्नमेन्ट स्कूल, गुजरात में व्यायाम का मास्टर था, इसलिये लोग

उसे सुचालामल के नाम से पुकारते थे। बालू दूकान करता था, उसे बालकराम कहते थे; परन्तु पालू की रुचि सर्वथा खेल-कूद ही में थी। पिता समझाता; माँ उपदेश करती, भाई निष्ठुर दृष्टि से देखते, मगर पालू सुनी-अनसुनी कर देता और अपने रंग में मस्त रहता।

इसी प्रकार पालू की आयु के तैंतीस वर्ष बीत गये, परन्तु कोई लड़की देने को तैयार न हुआ। माँ दुखी होती थी मगर पालू हँसकर टाल देता और कहता—"मैं ब्याह करके क्या करूँगा, मुझे इस बन्धन से दूर ही रहने दो।" परन्तु विधाता के लेख को कौन रोक सकता है? पाँच मील की दूरी पर टाँडा नामक ग्राम है। वहाँ के एक चौधरी ने पालू को देखा, तो लट्टू हो गया। रूप रंग में सुन्दर था, शरीर सुडौल। जाँत-पाँत पूछ कर उसने अपनी बेटी ब्याह दी।

[२]

पालू के जीवन में पलटा आ गया। पहले वह दिन के बारह घंटे बाहर रहता था और घर से इतना घबराता था जैसे चिड़िया पिंजरे से, परन्तु अब वही पिंजरा उसके लिये फूलों की वाटिका बन गया, जिससे बाहर पाँव रखते हुये उसका चित्त उदास हो जाता था। स्त्री क्या आई, उसका संसार ही बदल गया। अब उसे न बाँसुरी से प्रेम था, न किस्सों से प्रीति। लोग कहते, यार! कैसे जोरू-दास हो, कभी बाहर ही नहीं निकलते। हमारे सब साज-समाज उजड़ गये। क्या भाभी कभी कमरे से निकलने की भी आज्ञा नहीं देतीं? माँ कहती, बेटा ब्याह सब के होते आये हैं, परन्तु तेरा सरीखा निर्लज्ज किसी को नहीं देखा कि दिन-रात स्त्री के पास ही बैठा रहे। पिता उसके मुँह पर उसे कुछ कहना

उचित नहीं समझता था। मरम सुनाकर कह दिया करता था कि जब मेरा व्याह हुआ था, तब मैंने दिन के समय तीन वर्ष तक स्त्री के साथ बात न की थी। पर अब तो समय का रङ्ग ही पलट गया है, आज व्याह होता है कल घुल-घुल कर बातें होने लगती हैं। पालू लाख अनपढ़ था, परन्तु मूर्ख नहीं था कि इन बातों का अर्थ न समझता। पर स्वभाव का बेपरवा था, हँसकर टाल देता।

❀ ❀ ❀

दिन को प्रेम के दौर चलते, रात को स्वर्ग वायु के झकोरे आते। पालू की स्त्री की गोद में दो वर्ष का बालक खेलता था, जिस पर माता-पिता दोनों न्योछावर थे। एकाएक उजाले में अंधकार ने सिर निकाला। गाँव में विसूचिका का रोग फूट पड़ा जिसका पहला शिकार पालू की स्त्री हुई।

[३]

पालू विलक्षण प्रकृति का मनुष्य था। धीरता और नम्रता उसके स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल थी। बाल्यावस्था में वह बेपरवा था। बेपरवाही चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। आठ-आठ दिन घर से बाहर रहना उसके लिए साधारण बात थी। फिर विवाह हुआ, प्रेम नें हृदय के साथ पाँवों को भी जकड़ लिया। यह वह समय था जब उसके नेत्र एकाएक बाह्य संसार की ओर से बंद हो गये और वह इस प्रकार प्रेम-पाश में फँस गया जैसे शहद में मक्खी। मित्र-मंडली नोक-झोंक करती थी, भाई-बन्धु आँखों में मुस्कराते थे मगर उसके नेत्र और कान दोनों बन्द थे। परन्तु जब स्त्री भी मर गई तो पालू की प्रकृति फिर चंचल हो उठी। चंचलता को न खेल-तमाशे रोक सके, न मनोरंजक किस्से-कहानियाँ। यह दोनों रास्ते उससे पद-दलित किये जा

चुके थे। प्राय: ऐसा देखा गया है कि पढ़े-लिखे लोगों की अपेक्षा अनपढ़ और मूर्ख लोग अपनी टेक का ज्यादा ख्याल रखते हैं और इसके लिये तन-मन-धन तक न्यौछावर कर देते हैं।

पालू में यह गुण कूट-कूट कर भरा हुआ था। माता और पिता ने दुबारा ब्याह करने की ठानी, परन्तु पालू ने स्वीकार न किया और उनके कहने-सुनने पर कहा कि जिस बन्धन से एक बार छूट चुका हूँ उसमें दुबारा न फसूँगा। गृहस्थ का सुख भोग मेरे प्रारब्ध में न था। यदि होता तो मेरी पहली स्त्री क्यों मरती। अब तो इसी प्रकार जीवन बिता दूँगा। परन्तु यह अवस्था भी अधिक समय तक न रह सकी। तीन मास के अन्दर-अन्दर उसके माता-पिता दोनों चल बसे। पालू के हृदय पर दूसरी चोट लगी। क्रिया-कर्म से निवृत्त हुआ तो रोता हुआ बड़ी भावज के पाँवों में गिर पड़ा और बोला—"अब तो तुम्हीं बचा सकती हो, अन्यथा मेरे मरने में कोई कसर नहीं।"

भावज ने उसके सिर पर हाथ फेर कर कहा—"तुम्हें पुत्रों से बढ़कर चाहूँगी। क्या हुआ, जो तुम्हारे माता-पिता मर गये! हम तो जीते हैं।"

"यह नहीं, मेरे बेटे को सँभालो मैं अब घर में न रहूँगा।"

उसकी भाभी अवाक् रह गई। पालू अब सम्पत्ति बाँटने के लिए झगड़ा करेगा, उसे इस बात की शंका थी, परन्तु यह सुन कर कि पालू घर-बार छोड़ जाने को उद्यत है, उसका हृदय आनन्द से झूलने लगा। मगर अपने हर्ष को छिपा कर बोली—

"यह क्या? तुम भी हमें छोड़ जाओगे, तो हमारा जी यहाँ कैसे लगेगा?"

"नहीं, अब यह घर भूत के समान काटने दौड़ता है। मैं यहाँ रहूँगा तो जीता न बचूँगा। मेरे बच्चे के सिर पर हाथ रक्खो। मुझे न धन चाहिये, न सम्पत्ति। मैं सांसारिक धन्धों से

मुक्त होना चाहता हूँ अब मैं संन्यासी बनूँगा।"

यह कह कर अपने पुत्र सुखदयाल को पकड़ कर भावज की गोद में डाल दिया और रोते हुए बोला—"इसकी माँ मर चुकी है, पिता संन्यासी हो रहा है। परमात्मा के लिए इसका हृदय न दुखाना।"

बालक ने जब देखा कि पिता रो रहा है, तो वह भी रोने लगा और उसके गले लिपट गया; परन्तु पालू के पाँव को यह स्नेह-रज्जु भी न बाँध सका। उसने हृदय पर पत्थर रक्खा और अपने संकल्प को दृढ़ कर लिया।

कैसा हृदय-वेधक दृश्य था! सायंकाल को जब पशु-पक्षी अपने-अपने बच्चों के पास घरों को वापस लौट रहे थे, पालू अपने बच्चे को छोड़ कर घर से बाहर जा रहा था!

[४]

दो वर्ष बीत गए। पालू की अवस्था में आकाश-पाताल का अन्तर पड़ गया। वह पर्वत पर रहता था, पत्थरों पर सोता था, रात्रि को जागता था और प्रतिक्षण ईश्वर-भक्ति में मग्न रहता था। उसके इस आत्म-संयम की सारे हृषीकेश में धूम मच गई। लोग कहते, यह मनुष्य नहीं देवता है। यात्री लोग जब तक स्वामी विद्यानन्द के दर्शन न कर लेते अपनी यात्रा को सफल न समझते। उसकी कुटिया बहुत दूर पर्वत की एक कंदरा में थी, परन्तु उसके आकर्षण से लोग वहाँ खिंचे चले आते थे। उसकी कुटिया में रुपये-पैसे और फल-मेवे के ढेर लगे रहते थे, परन्तु यह त्याग का मूर्तिमान रूप उसकी ओर आँख भी न उठाता था। हाँ, इतना लाभ अवश्य हुआ कि उनके निमित्त स्वामी जी के बीसों चेले बन गए। स्वामी जी के मुखमंडल पर तेज बरसता था, जैसे सूरज

से किरण निकलती हैं। परन्तु, इतना होते हुये मन को शान्ति न थी। बहुधा सोचा करते कि देश-देशांतर में मेरी भक्ति की धूम मच रही है, दूर-दूर मेरे यश के डंके बज रहे हैं, मेरे संयम को देखकर बड़े-बड़े महात्मा चकित रह जाते हैं, परन्तु मेरे मन को शांति क्यों नहीं ? सोता हूँ, तो सुख की नींद नहीं आती। जागता हूँ, तो पूजापाठ में मन एकाग्र नहीं होता। इसका कारण क्या है ? उन्हें कई बार ऐसा अनुभव हुआ कि चित्त में अशान्ति है; पर वह क्यों है, इसका पता न चलता।

इसी प्रकार दो वर्ष व्यतीत हो गये। स्वामी विद्यानन्द की कीर्ति सारे हृषीकेश में फैल गई, परन्तु इतना होने पर भी उनका हृदय शान्त न था। प्रायः उनके कान में आवाज आती थी कि तू अपने आदर्श से दूर जा रहा है। स्वामी जी बैठे-बैठे चौंक उठते मानों किसी ने काँटा चुभो दिया हो। बार-बार सोचते परन्तु कारण समझ में न आता। तब वे घबरा कर रोने लग जाते। इससे मन तो हल्का हो जाता था, परन्तु चित्त को शांति फिर भी न होती। उस समय सोचते—संसार मुझे धर्मावतार समझ रहा है, पर कौन जानता है कि यहाँ आठों पहर आग सुलग रही है, पता नहीं पिछले जन्म में कौन पाप किये थे, जिससे अब तक आत्मा को शान्ति नहीं मिलती।

अन्त में उन्होंने एक दिन दण्ड हाथ में लिया और अपने गुरु स्वामी प्रकाशानन्द के पास जा पहुँचे। उस समय वे 'रामायण' की कथा से निवृत्त हुये थे। उन्होंने ज्योंही स्वामी विद्यानन्द को देखा, फूल की तरह खिल गए। उनको विद्यानन्द पर गर्व था। हँसकर बोले—

"कहिए, क्या हाल है ? शरीर तो अच्छा है ?"

परन्तु स्वामी विद्यानन्द ने कोई उत्तर न दिया, और रोते हुए उनके चरणों से लिपट गये।

स्वामी प्रकाशानन्द को बड़ा आश्चर्य हुआ। अपने सब से अधिक माननीय शिष्य को रोता देखकर उनकी आत्मा पर आघात सा लगा। उन्हें प्यार से उठाकर बोले—"क्यों कुशल तो है ?"

स्वामी विद्यानन्द ने बालकों की तरह फूट-फूटकर रोते हुये कहा—"महाराज, मैं पाखण्डी हूँ। संसार मुझे धर्मावतार कह रहा है, परन्तु मेरे मन में अभी तक अशान्ति भरी हुई है। मेरा चित्त आठों पहर अशान्त रहता है।"

जिस प्रकार भले-चंगे मनुष्य को देखते-देखते कुछ क्षण पश्चात् उसकी मृत्यु का समाचार सुनकर विश्वास नहीं होता, उसी प्रकार स्वामी प्रकाशानन्द को अपने सदाचारी शिष्य की बात पर विश्वास न हुआ और उन्होंने इस व्यंग से, मानों उनके कानों ने धोखा खाया हो, पूछा—"क्या कहा ?"

स्वामी विद्यानन्द ने सिर झुकाकर उत्तर दिया—"महाराज मेरा शरीर दग्ध हो गया है। परन्तु आत्मा अभी तक निर्मल नहीं हुई।"

"इससे तुम्हारा अभिप्राय क्या है ?"

"मैं प्रतिक्षण अशान्त रहता हूँ, मानों कोई कर्त्तव्य है, जिसे मैं पूरा नहीं कर रहा हूँ।"

"इसका कारण क्या हो सकता है जानते हो ?"

"जानता तो आपकी सेवा में क्यों आता ?"

एकाएक स्वामी प्रकाशानन्द को कोई बात याद आ गई। वे हँसकर बोले—"तुम्हारी स्त्री है ?"

"उसकी मृत्यु ही तो संन्यास का कारण हुई थी।"

"माता ?"

"वह भी नहीं।"
"पिता ?"
"वह भी मर चुके हैं।"
"कोई बाल-बच्चा ?"
"हाँ एक बालक है, वह चार वर्ष का होगा।"
"उसका पालन कौन करता है ?"
"मेरा भाई और उसकी स्त्री।"

स्वामी प्रकाशानन्द का मुख-मण्डल चमक उठा। हँस-कर बोले—

"तुम्हारी अशांति का कारण मालूम हो गया। हम कल तुम्हारे गाँव को चलेंगे।"

विद्यानन्द ने नम्रता से पूछा—
"मुझे शान्ति मिल जायगी ?"
"अवश्य, परन्तु कल अपने गाँव की तैयारी करो।"

[५]

पालू के मित्रों में लाला गणपतराय का पुत्र भोलानाथ हाँडा बड़ा सज्जन पुरुष था। लखनवाल के लोग उसकी सज्जनता पर लट्टू थे। उसे पालू के साथ प्रेम था। उसके मन की स्वच्छता, उसका भोलापन, उसकी निःस्वार्थता पर भोलानाथ तन-मन से न्योछावर था। जब तक पालू लखनवाल में रहा, भोलानाथ ने सदैव उसकी सहायता की। वे दोनों जोहड़ के किनारे बैठते, धर्मशाला में जाकर खेलते, मन्दिर में जाकर कथा सुनते। लोग देखते तो कहते, कृष्ण-सुदामा की जोड़ी है; परन्तु कृष्ण के आदर-सत्कार करने पर भी जब सुदामा ने वन का रास्ता लिया तब कृष्ण को बहुत दुःख हुआ। इसके पश्चात् उनको किसी ने खुल कर हँसते नहीं देखा।

भोलानाथ ने पालू का पता लगाने की चेष्टा की; परन्तु जब यत्न करने पर भी सफलता न हुई, तब उसके पुत्र सुखदयाल की ओर ध्यान दिया। प्राय: बालकराम के घर चले जाते और सुखदयाल को गोद में उठा लेते, चूमते, प्यार करते, पैसे देते। कभी-कभी उठाकर घर भी ले जाते। वहाँ उसे दूध पिलाते, मिठाई खिलाते और बाहर साथ ले जाते। लोगों से कहते—यह अनाथ है, इसे देखकर मेरा हृदय वश में नहीं रहता। उनके पैरों की चाप सुनकर सुखदयाल के चेहरे पर रौनक आ जाती थी। उसके चाचा-चाची घोर निर्दयता का व्यवहार करते और भोलानाथ का उसे प्यार तो उन्हें और भी बुरा लगता था। प्राय: कहा करते—कैसा निर्दयी आदमी है, हमारी कन्याओं के साथ बात भी नहीं करता; कैसी गोरी और सुन्दर हैं, जैसे मक्खन के पेड़े, देखने से भूख मिटती है; परन्तु उसको सुखदयाल के सिवा कोई पसन्द ही नहीं आता। पसन्द नहीं आता तो न सही; परन्तु क्या यह भी नहीं हो सकता कि कभी-कभी उनके हाथ पर दो पैसे ही रख दे, जिससे सुखदयाल के साथ उसका व्यवहार देखकर उनका हृदय मुरझा न जाय? पर यह बातें भोलानाथ के सामने करने का उन्हें साहस न होता। हाँ उसका क्रोध बेचारे सुखदयाल पर उतरता था। नल नीचे की ओर बहता है। परिणाम यह हुआ कि सुखदयाल सदैव उदास रहने लगा। उसका मुख-कमल मुरझा गया। प्रेम जीवन की धूप है, वह उसे प्राप्त न था। जब कभी भोलानाथ आता, तब उसे पितृ-प्रेम के सुख का अनुभव होने लगता था।

लोहड़ी का दिन था, साँझ का समय। बालकराम के द्वार पर पुरुषों की भीड़ थी, आँगन में स्त्रियों का जमघट। कोई गाती थी, हँसती थी, कोई आँगन में चावल फेंकती थी, कोई चिवड़े खाती थी। तीन कन्याओं के पश्चात् परमात्मा ने पुत्र

दिया था। यह उसकी पहली लोहड़ी थी। बालकराम और उसकी स्त्री दोनों आनन्द से प्रफुल्लित थे। बड़े समारोह से त्योहार मनाया जा रहा था। दस रुपये की मक्की उड़ गई, चिवड़े और रेवड़ी इसके अतिरिक्त! परन्तु सुखदयाल की ओर किसी का भी ध्यान न था। वह घर से बाहर दीवार के साथ खड़ा लोगों की ओर लुब्ध-दृष्टि से देख रहा था कि एकाएक भोलानाथ ने उसके कन्धे पर हाथ रखकर कहा—

"सुक्खू!"

सूखे दानों में पानी पड़ गया। सुखदयाल ने पुलकित होकर उत्तर दिया—"चाचा!"

"आज लोहड़ी है, तुम्हारी ताई ने तुम्हें क्या दिया?"

"मक्की।"

"और क्या दिया?"

"और कुछ नहीं दिया।"

"और तुम्हारी बहनों को?"

"मिठाई भी दी, संतरे भी दिये, पैसे भी दिये।"

भोलानाथ के नेत्रों में जल भर आया। भर्राये हुए स्वर से बोले—

"हमारे घर चलोगे?"

"चलूँगा।"

"कुछ खाओगे?"

"हाँ, खाऊँगा।"

घर पहुँचकर भोलानाथ ने पत्नी से कहा—"इसे कुछ खाने को दो।" भोलानाथ की तरह, उसकी पत्नी भी सुखदयाल को बहुत प्यार करती थी। उसने बहुत सी मिठाई उसके सम्मुख रख

दी। सुखदयाल रुचि से खाने लगा। खा चुका, तो चलने को तैयार हुआ। भोलानाथ नें कहा—"ठहरो, इतनी जल्दी काहे की है ?"

"ताई मारेगी।"

"क्यों मारेगी ?"

"कहेंगी, तू चाचा के घर क्यों गया था ?"

"तेरी बहनों पर मार पड़ती है ?"

"नहीं, उन्हें प्यार करती हैं।"

भोलानाथ की स्त्री के नेत्र भर आये। भोलानाथ बोले—"जो मिठाई बची है, वह जेब में डाल ले।"

सुखदयाल ने तृषित नेत्रों से मिठाई की ओर देखा और उत्तर दिया—"न।"

"क्यों ?"

"ताई मारेगी और मिठाई छीन लेगी।"

"पहले भी कभी मारा है ?"

"हाँ मारा है ?"

"कितनी बार मारा है ?"

"कई बार मारा है।"

"किस तरह मारा है ?"

"चिमटे से मारा है।"

भोलानाथ के हृदय पर जैसे किसी ने हथौड़ा मार दिया। उन्होंने ठंडी साँस भरी और चुप हो गये। सुखदयाल धीरे धीरे अपने घर की ओर रवाना हुआ; परन्तु उसकी बातें ताई के कानों तक उससे पहले जा पहुँची थीं। उसके क्रोध की कोई थाह नहीं थी। जब रात्रि चली गई और गली-मुहल्ले की स्त्रियाँ अपने-अपने घर चली गई, तो उसने सुखदयाल को पकड़कर कहा—"क्यों रे कलमुँहे, चाचा से क्या कहता था ?"

सुखदयाल का कलेजा काँप गया। डरते-डरते बोला—"कुछ नहीं कहता था।"

"तू तो कहता था, ताई मुझे चिमटे से मारती है।" बालक-राम पास खड़ा था, आश्चर्य से बोला—"अच्छा अब यह छोकरा हमारी मिट्टी उड़ाने पर उतर आया है!"

सुखदयाल ने आँखों ही आँखों ताऊ की ओर देखकर प्रार्थना की कि मुझे इस निर्दई से बचाओ; परन्तु वहाँ क्रोध बैठा था। आशा ने निराशा का रूप धारण कर लिया। ताई ने कर्कश स्वर से डाँटकर पूछा—

"क्यों, बोलता क्यों नहीं?"

"अब न कहूँगा।"

"अब न कहूँगा। न मरता है, न पीछा छोड़ता है। खाने को देते जाओ, जैसे इसके बाप की जागीर पड़ी है।"

यह कहकर उसने पास खड़ा हुआ बेलन उठाया। देखकर सुखदयाल बिलबिला उठा। परन्तु अभी उसके शरीर पर पड़ा न था कि उसकी लड़की दौड़ती हुई आई और कहने लगी—

"चाचा आया है।"

[६]

सुखदेवी का हृदय काँप गया। वह बैठी थी, खड़ी हो गई और बोली—"कौन सा चाचा! गुजरात वाला?"

"नहीं, पालू।"

सुखदेवी और बालकराम दोनों स्तम्भित रह गये। जिस प्रकार बिल्ली को सामने देखकर कबूतर सहम जाता है, उसी प्रकार दोनों सहम गये। आज से दो वर्ष पहले जब पालू साधू बनने के लिये विदा होने आया था, तब सुखदेवी मन में प्रसन्न हुई थी; परन्तु उसने प्रकट ऐसा किया मानों उसका हृदय इस

समाचार से टुकड़े-टुकड़े हो गया। इस समय उसके मन में भय और व्याकुलता थी, परन्तु मुख पर प्रसन्नता की झलक थी। वह जल्दी से बाहर निकली और बोली—"पालू!"

परन्तु वहाँ पालू के स्थान में एक साधू महात्मा खड़े थे, जिनके मुख-मण्डल से तेज की किरणें फूट-फूटकर निकल रही थीं। सुखदेवी के मन को धीरज हुआ; परन्तु एकाएक ख्याल आया; यह तो वही है, वही मुँह, वही आँखें, वही रङ्ग, वही रूप; परन्तु कितना परिवर्तन हो गया है! सुखदेवी ने मुस्कराकर कहा—"स्वामी जी, नमस्कार करती हूँ।"

इतने में बालकराम अन्दर से निकला और रोता हुआ स्वामी जी से लिपट गया। स्वामी जी भी रोने लगे, परन्तु यह रोना दुःख का नहीं, आनन्द का था। जब हृदय कुछ स्थिर हुआ तो बोले—"भाई, तनिक बाल-बच्चों को तो बुलाओ, देखने को जी तरस गया।"

सुखदेवी अन्दर को चली; परन्तु पाँव मन-मन के भारी हो गये। सोचती थी—यदि बालक सो गये होते, तो कैसा अच्छा होता! सब बातें ढँकी रहतीं। अब क्या करूँ? इस बदमाश सुक्खू के वस्त्र इतने मैले हैं कि सामने करने का साहस नहीं पड़ता, आँखें कैसे मिलाऊँगी? रङ्ग में भङ्ग डालने के लिये इसे आज ही आना था? दो वर्ष बाद आया है, इतना भी न हुआ कि पहले से पत्र ही लिख देता।

इतने में स्वामी विद्यानन्द अन्दर आ गये; पितृ-वात्सल्य ने लज्जा को दबा लिया था; परन्तु सुखदयाल और भतीजियों के वस्त्र तथा उनके रूप-रङ्ग जो देखा, तो खड़े के खड़े रह गये। भतीजियाँ ऐसी थीं जैसे चमेली के फूल; और सुक्खू, वही जो कभी मैना के समान चहकता फिरता था, जिसकी बातें सुनने के

लिए राह जाते लोग खड़े हो जाते थे, जिसकी नटखटी बातों पर प्यार आता था, आज उदासीनता की मूर्त्ति बना हुआ था। उसका मुँह इस प्रकार कुम्हलाया हुआ था जिस प्रकार जल न मिलने से वृक्ष कुम्हला जाता है। उसके बाल रूखे थे और मुँह पर दारिद्रय बरसता था। उसके वस्त्र मैले-कुचैले थे, जैसे किसी भिखारी का लड़का हो। स्वामी विद्यानन्द के नेत्रों में आँसू आ गये। सुखदेवी और बालकराम पर घड़ों पानी पड़ गया; खिसियाने-से होकर बोले—"कैसा शरारती है, दिन-रात धूल में खेलता रहता है।"

स्वामी विद्यानन्द सब कुछ समझ गये, परन्तु उन्होंने कुछ प्रकट नहीं किया और बोले—"मैं आज अपने पुराने कमरे में सोऊँगा, एक चारपाई डलवा दो।"

रात्रि का समय था। स्वामी विद्यानन्द सुक्खू को लिये अपने कमरे में पहुँचे। पुरानी बातें ज्यों-की-त्यों याद आ गईं। यही कमरा था, जहाँ प्रेम के पासे खेले थे; यहीं प्रेम के प्याले पिये थे, इसी स्थान पर बैठ कर प्रेम का पाठ पढ़ा था, यही वाटिका थी जिसमें प्रेम-पवन के मस्त झोंके चलते थे, कैसा आनन्द था, विचित्र काल था, अद्भुत वसंत ऋतु थी, उसने शिशिर के झोंके कभी देखे ही न थे। आज वाटिका उजड़ चुकी थी, प्रेम का राज्य लुट चुका था! स्वामी विद्यानन्द के हृदय में हलचल मच गई।

परन्तु सुक्खू का मुख इस प्रकार चमकता था जैसे ग्रहण के पश्चात् चंद्रमा। उसे देखकर स्वामी विद्यानन्द ने सोचा—'मैं कैसा मूर्ख हूँ ? ताऊ और ताई जब इस पर सख्ती करते होंगे, जब अकारण इसको मारते-पीटते होंगे, जब इसके सामने अपनी कन्याओं से प्यार करते होंगे, उस समय यह क्या सहता होगा,

इसके हृदय में क्या विचार उठते होंगे? यही कि मेरा पिता नहीं है वह मर गया; नहीं तो मैं इस दशा में क्यों रहता? यह फूल था, जो आज धूल में मिला हुआ है। इसके हृदय में धड़कन है, नेत्रों में त्रास है, मुख पर उदासीनता है। वह चंचलता, जो बच्चों का विशेष गुण है, इसमें नाम को नहीं; वह हठ, जो बालकों की सुन्दरता है, इससे विदा हो चुका है, यह बाल्यावस्था ही में वृद्धों की नाईं गम्भीर बन गया है। इस अनाथ का उत्तरदायित्व मेरे सिर है, जो इसे यहाँ छोड़ गया, नहीं तो इस दशा को क्यों पहुँचता।' इन्हीं विचारों में झपकी आ गई, क्या देखते हैं कि वही हृषीकेश पर्वत है, वही कन्दरा। उसमें देवी की मूर्त्ति है, और वे उसके सम्मुख खड़े रो-रोकर कह रहे हैं—"माता, दो वर्ष व्यतीत हो गये, अभी तक शांति नहीं मिली। क्या यह जीवन रोने में ही बीत जायगा?"

एकाएक ऐसा प्रतीत हुआ जैसे पत्थर की मूर्त्ति के होठ हिलते हैं। स्वामी विद्यानंद ने अपने कान उधर लगा दिये। आवाज आई—"तू क्या माँगता है, यश?"

"नहीं, मुझे उसकी आवश्यकता नहीं।"

"तो फिर जगत्-दिखावा क्यों करता है?"

"मुझे शांति चाहिए।"

"शांति के लिए सेवा-मार्ग की आवश्यकता है। पर्वत छोड़ और नगर में जा, जहाँ दुखीजन रहते हैं। उनके दुःख दूर कर। किसी के घाव पर फाहा रख, किसी के टूटे हुए मन को धीरज बँधा। फिर तेरा पुत्र है, पहले तू उसकी ही देख-रेख कर, अपने कर्त्तव्य का पालन कर, तभी तुझे सच्ची शांति प्राप्त होगी।"

यह सुनते ही स्वामी जी के नेत्र से पर्दा हट गया। जागे तो

वास्तविक भेद मन पर खुल चुका था—कि मन की शांति कर्तव्य करने से मिलती है।

अभ्यास के लिये

१—विद्यानन्द (पालू) का चरित्र-चित्रण कीजिये।
२—इस कहानी का सारांश लिखिये।
३—'सच्ची शान्ति कर्तव्य-पालन से ही प्राप्त होती है'—आप लेखक के इस विचार से कहाँ तक सहमत हैं?
४—सुदर्शन जी का परिचय दीजिये और उनकी भाषा-शैली एवं कहानी कला पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

१२—हंस का नीर-क्षीर विवेक

[लेखक—आचार्य पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी]

आचार्य पंडित महावीर प्रसाद जी द्विवेदी से प्रत्येक हिन्दी-भाषा-भाषी परिचित है। आपका जन्म रायबरेली जिले के दौलतपुर ग्राम में सम्वत् १९११ वि० में हुआ था। प्रारम्भ में आप जी० आई० पी० रेलवे में हेड क्लर्क थे और काफी वेतन पाते थे, किन्तु मातृभाषा हिन्दी की सेवा के हित आपने इस नौकरी को छोड़ 'सरस्वती' मासिक पत्रिका का सम्पादन-भार स्वीकार किया। संवत् १९६० से १९८० वि० तक आपने इस कार्य को बड़ी योग्यता-पूर्वक निबाहा। इस बीस वर्ष के दीर्घ सम्पादन-काल में आपने हिन्दी-साहित्य की बहुमुखी सेवाएँ कीं। एक ओर तो आपने हिन्दी लेखकों के व्याकरण-शिक्षक बनकर हिन्दी भाषा और गद्य-शैली का रूप स्थिर किया और आलोचना शास्त्र की नींव डाली; दूसरी ओर खड़ी बोली में कविता करने का पथ-प्रदर्शन करके कविरत्नों की सृष्टि की। वर्तमान हिन्दी के निर्माण का श्रेय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पश्चात् आप ही का है। द्विवेदी जी ही आधुनिक युग के आचार्य हैं।

आचार्य द्विवेदी जी की सत्तरवीं वर्षगाँठ हिन्दी-संसार में बड़े समारोह से मनाई गई थी। इस शुभ अवसर पर 'नागरी प्रचारिणी सभा काशी' ने द्विवेदी-अभिनन्दन' नामक बृहद् ग्रंथ समर्पण कर तथा प्रयाग के साहित्यिकों ने द्विवेदी-मेला की नींव डालकर आचार्य जी के प्रति अगाध सम्मान एवं कृतज्ञता का परिचय दिया था।

द्विवेदी जी संस्कृत, फारसी, उर्दू, अंग्रेजी प्रभृत भाषाओं के पण्डित सुलेखक और उत्कृष्ट समालोचक एवं कवि थे। 'रघुवंश', 'हिन्दी महाभारत', 'कुमारसम्भव', 'किरातार्जुनीय' आदि संस्कृत-ग्रन्थों का तथा 'बेकन-विचार माला', 'शिक्षा', 'स्वाधीनता', प्रभृत अंग्रेजी ग्रन्थों का सुन्दर अनुवाद किया है। आपके स्वतन्त्र ग्रन्थों में—'अद्भुत आलाप', 'रसज्ञ रंजन', 'साहित्य सीकर', विचित्र चित्रण' प्रभृत निबन्ध संग्रह तथा 'कालिदास की निरंकुशता', 'संपत्ति शास्त्र', 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति' आदि विशेष प्रसिद्ध हैं।

आपकी गद्य-शैली व्याकरण सम्मत, परिमार्जित और विषयानुकूल परिवर्तनशील है। ओज और सुबोधता उसकी प्रधान विशेषता है। भाव प्रकाशन के भेद से उसके नाम व्यंगात्मक विचारात्मक और गवेषणात्मक स्थिर किये गये हैं। आपका शब्द-भंडार बड़ा विस्तृत है जिसमें संस्कृत के तत्सम, तद्भव, देशज आदि शब्द सम्मिलित हैं। व्यंग्य के लिए उर्दू के प्रचलित शब्दों का भी आप प्रयोग करते हैं।

साहित्य का यह महारथी हिन्दी की अभूतपूर्व सेवा कर सं० १९९५ वि० में परलोकवासी हुआ।

संस्कृत-साहित्य में हंस, पिक, भ्रमर और कमल की बड़ी धूम है। बिना इनके कवियों की कविता फीकी हो जाती है। कोई पुराण, कोई काव्य, कोई नाटक ऐसा नहीं जिनमें इनका जिक्र न हो। सब में कवियों ने एक न एक विशेषता भी रक्खी है। यथा—

हंस मिले हुये दूध और पानी को अलग-अलग कर देता है; दूध पी लेता है और पानी-पानी छोड़ देता है। पिक अपने बच्चे कौओं के घोसलों में रख आता है और बड़े होने तक उन्हीं से उनकी सेवा कराता है। भ्रमर आम की मंजरी से अतिशय प्रेम रखता है, पर चम्पे के पास तक नहीं जाता। कमल चंद्रमा से द्वेष रखता है, उसकी विद्यमानता में वह कभी नहीं खिलता, पर सूर्य का परम भक्त है। इनमें से दो-एक बात तो निस्संदेह सही हैं, पर औरों के विषय में मतभेद है। उदाहरण के लिये हंस और उसके नीर-क्षीर विषयक विवेक को लीजिये।

संस्कृत काव्यों में जगह-जगह पर यह लिखा हुआ है कि हंस में यह शक्ति है कि वह दूध और पानी को अलग-अलग कर देता है। पर दूध और पानी को अलग-अलग करते उसे किसी ने नहीं देखा। शायद किसी ने देखा भी हो, पर इस विषय का कोई लेख कहीं नहीं मिलता। यह प्रवाद सात समुद्र पार करके अमेरिका पहुँचा। वहाँ के विद्वानों को हंस का यह अद्भुत गुण सुन कर आश्चर्य हुआ। पर वे लोग ऐसी-ऐसी बातों को चुपचाप मान लेने वाले नहीं। इस देश में हंस विषयक यह प्रवाद हजारों वर्षों से सुना जाता है पर इसके सत्यासत्य की जाँच आज तक किसी ने नहीं की। यदि किसी ने की भी हो तो उसका फल लिपिबद्ध नहीं मिलता। अमेरिका में हवार्ड नाम का एक विश्वविद्यालय है। उसमें लाँगमैन साहब एक अध्यापक हैं। आपने हंस के इस अलौकिक गुण की परीक्षा का प्रण किया। इसलिये आपने कई हंस मँगा कर पाले और अनेक तरह से उनकी परीक्षा की। पर नीर को क्षीर से अलग करने में उन्होंने हंस को असमर्थ पाया। तो हंस के नीर-क्षीर विवेक विषयक वाक्यों की क्या संगति हो? इसके विषय में दो-एक वाक्य देखिये—

नीर-क्षीर-विवेके हंसालस्य त्वमेव तनुषे चेत्।
विश्वस्मिन्नधुनान्यः कुलव्रतं पालयिष्यति कः॥

—भामिनीविलास

हंस, यदि क्षीर को नीर से अलग कर देने का विवेक तू ही शिथिल कर देगा, तो फिर इस जगत में कुलव्रत का पालन और कौन करेगा ?

यो हनिष्यति वध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षति च द्विजम्।
हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः॥

—शकुन्तला

हंस जिस तरह क्षीर ग्रहण कर लेता है और उसमें मिला हुआ पानी पड़ा रहने देता है, वैसे ही यह भी वध करने योग्य तुझे मारेगा और रक्षणीय द्विज की रक्षा करेगा।

प्राज्ञस्तु जल्पतां पुंसां श्रुत्वा वाचःशुभाऽशुभः।
गुणवद्वाक्यमादत्ते हंसः क्षीरमिवाम्भसः॥

—महाभारत, आदिपर्व

लोगों के मुँह से भली-बुरी बातें सुनकर बुद्धिमान् आदमी अच्छी बात को वैसे ही ग्रहण कर लेता है, जैसे हंस जल में से दूध को ग्रहण कर लेता है।

इसका कारण टीकाकार सायनाचार्य ने यह बतलाया है कि जल-मिश्रित दूध के बर्तनों में हंस जब अपनी चोंच डालता है, तब मुखगत रस-विशेष का योग होते ही जल और दूध अलग-अलग हो जाते हैं, या अलग-अलग जान पड़ते हैं।

इस कथन से यह सूचित होता है कि किसी-किसी की राय में हंस के मुँह में एक प्रकार का रस होता है। उस रस का मेल होने से पानी और दूध अलग-अलग हो जाते हैं। यदि इस रस में खट्टापन हो तो दूध का जम कर दही हो जाना सम्भव है। पर इसके लिये कुछ समय चाहिये। क्या हंस का चोंच दूध के

भीतर पहुँचते ही दूध जम जाता होगा ? संभव है, जम जाता हो, पर यह वात समझ में नहीं आती कि पात्र में भरे हुये जल मिश्रित दूध में से जल को अलग करके दूध को हंस किस तरह पी लेता है। अध्यापक लाँगमैन की परीक्षा से तो यह वात सिद्ध नहीं हुई।

अमेरिका के एक और विद्वान ने हंस के नीर-क्षीर-विषयक प्रवाद का विचार किया है। आपका नाम है डाक्टर काब्मस। आप वाशिंगटन में रहते हैं। आपका मत है कि हंस के मुँह की बनावट ऐसी है कि जब वह कोई चीज खाता है, तब उसका रसमय पतला अंश उसके मुँह के बाहर गिर पड़ता है और कड़ा अंश पेट में चला जाता है। आपके मत में दूध से मतलब इसी कड़े अंश से है। बहुत रसीली चीज के कठोर अंश का अर्थ दूध करना हास्यास्पद है।

अच्छा, हंस रहते कहाँ हैं और खाते क्या हैं ? हंस बहुत करके इसी देश में पाये जाते हैं। उनका सब से प्रिय निवास-स्थान मानसरोवर है। यह सरोवर हिमालय पर्वत के ऊपर है। सुनते हैं, यह तालाब बहुत सुन्दर है। इसका जल मोती के समान निर्मल है। यहीं हंस अधिकता से रहते हैं और यहीं वे अंडे देते हैं। जाड़ा आरम्भ होते ही, शीताधिक्य के कारण मानसरोवर छोड़ करके नीचे चले आते हैं पर विन्ध्याचल के आगे वे नहीं बढ़ते। विंध्य और हिमालय के बीच ही में निर्मल जल-राशि पूर्ण तालाबों और नदियों के किनारे वे रहते हैं। चैत-वैशाख में वे हिमालय की तरफ चले जाते हैं। जलाशयों में कमलों की अधिकता होती है, वे हंसों को अधिक प्रिय होते हैं। वहीं वे अधिक रहते हैं। उनके शरीर का रंग सफेद होता है और पैर लाल होते हैं। चोंच का भी रंग लाल होता है। डील-डौल उनका बतक से कुछ बड़ा होता है।

यदि हंस दूध पीते हैं, तो दूध उनको मिलता कहाँ से है ? मानसरोवर में उन्होंने गायें या भैंसें तो पाल नहीं रक्खीं और न हिन्दुस्तान ही के किसी तालाव या नदी में उनके दूध पीने की कोई संभावना है। इससे गाय-भैंस का दूध पीना हंसों के लिये असंभव-सा जान पड़ता है। कोई-कोई कवि-जन कहते हैं कि हंस मोती चुगते हैं, पर मोती भी मानसरोवर में नहीं होते। यदि उसमें मोतियों का पैदा होना मान भी लिया जाय तो हिन्दुस्तान के तालाबों में, जहाँ वे कुछ दिन रहते हैं, मोतियों का पैदा होना आज तक नहीं सुना गया। हाँ, एक वार हमने कहीं पढ़ा था कि पंजाब या राजपूताने की किसी भील में कुछ शुक्तियाँ ऐसी मिली थीं, जिनमें मोती थे। पर क्या जितने हंस मानसरोवर छोड़कर नीचे आते हैं वे सिर्फ उसी भील में जाकर रहते और मोती चुगते हैं ? वहाँ भी यदि मोती बिखरे हुए पड़े हों, तभी उन्हें हंसगण आसानी से चुग सकेंगे। पर यदि वे शुक्तियों के भीतर रहते हों तो उनको फोड़कर मोती निकालना हंसों के के लिये जरा कठिन काम होगा। पर इन संभावनाओं का कुछ अर्थ नहीं। निर्मल जल की उपमा मोती से दी जाती है और मानसरोवर का जल अत्यन्त निर्मल है। इससे उसके मोती सदृश निर्मल जल की उपमा मोती से देते-देते लोगों ने जल को ही मोती मान लिया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। अतएव—"की हंसा मोती चुगैं कि भूखे रहि जायें" आदि में मोती चुगने से मतलब मोती के समान निर्मल जल पीने से जान पड़ता है। यह पीने की बात हुई, अब खाने की वात का विचार कीजिये। नैषधचरित के पहले सर्ग में लिखा है कि राजा नल ने एक हंस पकड़ा। हंस आदमी की बोली बोलता था। उसने राजा से कहा—"वलेन मूलेन वारिभूरुहां मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तय:।" अर्थात् पानी में पैदा होने वाले पौधों और बेलों के फलों और

कन्दों से मैं मुनियों के समान अपना जीवन-निर्वाह करता हूँ। भामिनीविलास में जगन्नाथराय ने हंस की एक अन्योक्ति कही है। यथा—

भुक्ता मृणालपटली भवता निपीता—
न्यूम्बूनि यत्रनलिनानि निषेवितानि।
रे राजहंस ! वद तस्य सरोवरस्य
कृत्येन केन भवितासि कृतोपकारः ?

रे राजहंस, जिसके आश्रय में रहकर तू ने मृणालदण्डों को खाया, जल पान किया और नलिनों का स्वाद लिया, उस सरोवर का किस प्रकार प्रत्युपकार करेगा ?

इन अवतरणों से प्रकट है कि हंस चाहे मोती चुगते और दूध पीते ही क्यों न हों, पर वे पानी भी पीते हैं और जलरुह पौधों के फल, फूल, मूल, नाल, मृणाल, बिस-तन्तु भी खाते हैं। हंसों को जलपूर्ण जलाशयों में रहना अधिक पसन्द है। वहाँ उनके खाने की सामग्री विशेषकर मृणालदण्ड, उनके भीतर के विस-तन्तु और उनसे निकलने वाला रस है। कमल नाल को तोड़ने से उसके भीतर सफेद-सफेद सूत-सी एक चीज निकलती है उसी को विस-तन्तु कहते हैं। सुनते हैं, उसे हंस बहुत खाते हैं। मृणाल-दण्ड की गाँठी से एक तरह का रस भी निकलता है। वह पहले दूध की तरह सफेद होता है। उसमें कुछ मीठापन भी होता है। उस रस का भी नाम क्षीर है। पेड़ों से निकलने वाले पानी के सदृश सफेद रङ्ग के प्रायः सभी प्रवाही पदार्थों का नाम क्षीर है। यहाँ तक कि गूलर, बरगद, थूहड़ और मदार तक से निकलने वाली सफेद चीज को हम लोग दूध ही कहते हैं। मृणालदण्ड पानी में रहते हैं। उन्हीं के भीतर से क्षीर तुल्य सफेद रस निकलता है। उसी रस को हंस लोग पीते या खाते हैं। अतएव, इस तरह पानी के भीतर से निकालकर हंसों का

दूध पीना जरूर सिद्ध है। अनुमान होता है कि आरम्भ में इसी प्रकार के नीर-क्षीर के पृथकत्व से पंडितों का मतलब रहा होगा। धीरे-धीरे लोग यह बात भूल गये। उनकी यह समझ हो गई कि मामूली जल-मिश्रित दूध से हंस जल को पृथक् कर देते हैं और जल को छोड़ कर दूध भर पी जाते हैं।

अभ्यास के लिये

१—क्या हंस में दूध और पानी अलग-अलग कर देने की शक्ति है ?

२—सायनाचार्य ने हंस के नीर-क्षीर विवेक को क्या कारण देकर समझाया है ?

३—इस विषय में पाश्चात्य विद्वानों ने जो खोज की उससे क्या बात सिद्ध हुई ?

४—हंस कहाँ रहते हैं और क्या खाते-पीते हैं ?

५—'की हंसा मोती चुगैं, की भूखे रहि जायँ' का क्या अर्थ है ? इस कथन पर अपनी सम्मति दीजिये।

६—पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी के विषय में क्या जानते हैं। इनकी साहित्यिक महत्ता और गद्य-शैली की विशेषताओं पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

१३-पेनिसिलिन

[लेखक—श्री भगवती प्रसाद श्रीवास्तव]

विज्ञान-सम्बन्धी लेखों द्वारा हिन्दी भाषा की श्रीवृद्धि करने वाले व्यक्तियों में श्री भगवती प्रसाद श्रीवास्तव, एम० एस-सी०, का नाम विशेष उल्लेख-

-नीय है। आप किशोरी रमण कालेज, मथुरा, में भौतिक विज्ञान के प्रसिद्ध अध्यापक हैं। आपके सुन्दर वैज्ञानिक लेख प्रायः प्रति सप्ताह 'आज' साप्ताहिक में प्रकाशित होते रहते हैं। इधर आपके लेखों का एक संग्रह 'विज्ञान के चमत्कार' नाम से ज्ञान-मंडल, काशी द्वारा प्रकाशित हो चुका है। इन लेखों का मुख्य उद्देश्य जनता के बीच विज्ञान के प्रति अभिरुचि उत्पन्न करना है। आपकी भाषा सुबोध और सरल हिन्दी का निखरा स्वरूप है। आपकी विषय-प्रतिपादन की शैली अत्यन्त ही आकर्षक है। प्रस्तुत 'पेनिसिलिन' पाठ 'विज्ञान के चमत्कार' नामक आपकी पुस्तक से ही उद्धृत किया गया है।

ओषधि विज्ञान के इतिहास में सम्भवतः 'पेनिसिलिन' का आविष्कार एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। समस्त कीटाणु-नाशक ओषधियों में 'पेनिसिलिन' का स्थान सर्वोपरि है। बीसियों प्राणनाशक व्याधियों के कीटाणुओं को वह निश्चय रूप से तथा कम से कम समय में नष्ट कर सकता है। अन्य कीटाणु-नाशक ओषधियों के प्रयोग के उपरांत रोगी पर उसके कुछ हानिकारक प्रभाव रह जाते हैं किन्तु पेनिसिलिन इस दोष से सर्वथा मुक्त है।

पेनिसिलिन के आविष्कार की कहानी स्वयं बड़ी रोचक है। लगभग १७ वर्ष पूर्व १९२९ में सेन्ट मेरी अस्पताल लंदन के प्रोफेसर एलेक्जेन्डर फ्लेनिंग 'कार्बंकल' के तथा रुधिर को विषाक्त बनाने वाले कीटाणुओं का अध्ययन कर रहे थे। टेस्ट-ट्यूब के अन्दर इन्हीं कीटाणुओं को उत्पन्न करने का प्रयोग ये कर रहे थे। इस सिलसिले में थोड़ी-थोड़ी देर के उपरान्त प्रोफेसर फ्लेनिंग टेस्ट-ट्यूब को खोल कर अनुवीक्षण यन्त्र द्वारा

कीटाणुओं का निरीक्षण करते थे। हवा में फफूंद उत्पन्न करने वाले कुछ कीटाणु भीतर पहुँच गए। फलस्वरूप एक दिन आपने देखा कि एक टेस्ट-ट्यूब में अन्दर मखमली फफूंद सी लग गई थी। अनुवीक्षण यंत्र द्वारा ध्यान से परीक्षा करने पर उन्होंने पाया कि फफूंद के चारों ओर के कीटाणु तेजी के साथ विनष्ट होते जा रहे थे। उन्होंने सोचा कि अवश्य ही फफूंद में कुछ ऐसे तत्व मौजूद है जो इन कीटाणुओं के लिए विशेष रूप से घातक साबित होते हैं। इसी पदार्थ को 'पेनिसिलिन' का नाम दिया गया। तदुपरांत प्रोफेसर फ्लेनिंग ने इस फफूंद का थोड़ा सा भाग तार के टुकड़े की सहायता से बाहर निकाला और उसे एक दूसरे टेस्ट-ट्यूब में विशुद्ध अवस्था में बढ़ने के लिए रख दिया। फिर प्रयोगों द्वारा उसने यह दिखलाया कि जिस द्रव में यह फफूंद पैदा हुई उसी के अन्दर 'पेनिसिलिन' का निर्माण हुआ और फफूंद का कीटाणु-नाशक गुण इसी 'पेनिसिलिन' के कारण है।

किन्तु उन दिनों 'पेनिसिलिन' विशुद्धावस्था में तैयार नहीं की जा सकी थी तथा वह गाढ़े रूप में भी प्राप्त न हो सकी। इसी-लिए पूरे दस वर्ष तक इस रामबाण औषधि का पूरा फायदा हम न उठा पाये थे। बाद में आक्सफोर्ड के प्रोफेसर फ्लोरे ने पेनि-सिलिन को गाढ़ा बनाने की विधि मालूम की और तभी प्रयोगों द्वारा उन्होंने प्रमाणित किया कि गाढ़ी अवस्था की पेनिसिलिन का प्रयोग रोग के कीटाणुओं का नाश करता है, साथ ही रोगी पर वह किसी प्रकार हानिकारक प्रभाव नहीं डालता। युद्ध के दौरान में पेनिसिलिन का सर्व-प्रथम प्रयोग शारीरांगों के घाव को कीटाणु रहित करके उन्हें स्वस्थ रखने के निमित्त हुआ था।

तदुपरांत आक्सफोर्ड के प्रोफेसर फ्लोरे ने चूहों के शरीर में पेनिसिलिन को द्रव के रूप में प्रविष्ट कराकर उसके कीटाणु-

नाशक गुण को साबित किया। सुई द्वारा प्रोफेसर फ्लोरे ने पेनि-सिलिन के इंजेक्शन की विधि निकाली। सन् १९४१ में इस सिलसिले में प्रोफेसर फ्लोरे ने दस ऐसे मनुष्यों को चुना जिनके रोग 'सल्फोनामाइड' द्वारा भी दूर न हो सके थे। पेनिसिलिन के प्रयोग से इन सभी व्यक्तियों को लाभ हुआ। प्रोफेसर फ्लोरे अब पेनिसिलिन निर्माण के लिए परामर्श देने के लिए अमेरिका आमन्त्रित किए गये। शीघ्र ही अमेरिका में एक बड़े पैमाने पर पेनिसिलिन तैयार करने के लिए फैक्टरियाँ खुल गईं और सन् १९४३ में सर्वत्र मित्रराष्ट्रों की सेना में आहत तथा बीमार सैनिकों की औषधि उपचार के लिये पेनिसिलिन का प्रयोग प्रचुरता से होने लगा।

अधिक पेनिसिलिन तैयार करने के लिए काफी झंझटों का सामना करना पड़ता है और देर भी लगती है। चीनी के शर्बत पर फफूंद धीरे-धीरे हफ्तों उगाया जाता है। इसके लिए खास ढंग के कांच के वर्तन (फ्लास्क) का प्रयोग किया जाता है। फ्लास्क के मुँह पर रुई रख देते हैं ताकि फफूँद उत्पन्न करने वाले कीटाणु अन्दर जाकर फफूँद का निर्माण कर सकें। लगभग १५ दिनों तक फफूँद बढ़ता रहता है। इस प्रकार नमदे की तरह एक मोटी तह फफूँद की शर्बत पर जम जाती है। इस अवस्था पर नीचे तह में पेनिसिलिन समाविष्ट हो जाती है। तदुपरान्त इस द्रव से पेनिसिलिन शुद्धावस्था में प्राप्त की जाती है। फिर इसे गाढ़ा बनाया जाता है। द्रव से पेनिसिलिन प्राप्त करने तथा उसे गाढ़ा बनाने के लिए शीघ्रता तथा सावधानी की आवश्यकता पड़ती है। अन्यथा द्रव से पेनिसिलिन अपने आप विनष्ट हो जाती है।

पेनिसिलिन के गुणों के सम्बन्ध में किये गये नूतनतम अनुसंधानों से पता चलता है कि गर्दन-तोड़-ज्वर, कार्बकल

न्यूमोनियां, विषाक्त गैस के प्रभाव, उपदंश तथा विपाक्त चोट के लिए पेनसिलिन रामबाण ओषधि साबित होती है। राजयक्ष्मा, मोती झाला ज्वर, पेचिश तथा मलेरिया के कीटाणुओं पर पेनि-सिलिन का प्रभाव नहीं पड़ता।

साधारणतः पेनिसिलिन घोल के रूप में शरीर के अन्दर इंजेक्शन द्वारा प्रविष्ट कराई जाती है। इंजेक्शन या तो रक्तवाहिनी शिराओं में दिया जाता है, या उसे जाँघों के पिछले भाग की मांसपेशियों में डाला जाता है। एक बार पेनिसिलिन प्रविष्ट करा देने पर लगभग तीन घंटे तक वह शरीर में रहता है। फिर मूत्र के रास्ते वह बाहर निकल जाता है। अतः पेनिसिलिन द्वारा उप-चार करने में पेनिसिलिन की प्रचुर मात्रा की आवश्यकता पड़ती है, बार-बार पेनिसिलिन का इंजेक्शन देना पड़ता है। एक बार के इंजेक्शन के लिए १५,००० यूनिट की जरूरत होती है।

विषाक्त हुए चोट (सेप्टिक पर मलहम के साथ पेनिसिलिन मिलाकर लगाते हैं। किंतु गहरी चोट में भीतर तक मलहम की पेनिसिलिन पहुँच नहीं पाती। अतः ऐसी दशा में इंजेक्शन की ही शरण लेनी पड़ती है। मुँह के रास्ते पेनिसिलिन खाने के लिए साधारणतः नहीं दी जाती; क्योंकि मुँह के अन्दर तथा पेट में पाए जाने वाले अम्लत्व के संसर्ग में आने पर तुरंत ही पेनिसिलिन नष्ट हो जाती है।

गर्दन तोड़ ज्वर में पेनिसिलिन का इंजेक्शन सीधे रीढ़ के अन्दर दिया जाता है। इस दशा में रक्त-वाहिनी शिराओं में इंजे-क्शन देने से विशेष लाभ नहीं होता, क्योंकि रुधिर में से रीढ़ के अन्दर पेनिसिलिन आसानी से नहीं पहुँच पाती।

पेनिसिलिन चिकित्सा में इस बात का विशेष ध्यान रखना पड़ता है कि हर बार शरीर के अन्दर औषधि की पूरी मात्रा

पहुँचे क्योंकि कुछ बीमारियों के कीटाणु पेनिसिलिन की अपर्याप्त मात्रा के संसर्ग में आने पर एक प्रकार की सुरक्षित अवस्था अख्तियार कर लेते हैं और अब पेनिसिलिन का इन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

हड्डी टूटने अथवा शरीरांगों के विक्षत हो जाने पर भी पेनिसिलिन का इस्तेमाल विशेष उपयोगी साबित होता है।

पेनिसिलिन साधारणतः रबर की कार्क लगी छोटी-छोटी शीशियों में आती है। प्रत्येक शीशी में १ लाख यूनिट पेनिसिलिन मौजूद रहती है। इसे शुद्ध परिस्रवित पानी में मिलाकर या नमक के घोल में मिलाकर इन्जेक्शन के लिए इस्तेमाल करते हैं। रीफ्रिजरेटर के अन्दर बर्फ के टेम्प्रेचर पर ही इसे रखा जाता है। अन्यथा इसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। पाउडर के रूप में भी पेनसिलिन फर्म द्वारा तैयार की जाती है। इस पाउडर को नमक के घोल में मिलाकर इन्जेक्शन के लिए तैयार कर लेते हैं।

पेनिसिलिन का रासायनिक विश्लेषण इस उद्देश्य से किया जा रहा है कि उसे रसायनशाला में कम से कम समय में कृत्रिम साधनों द्वारा तैयार किया जा सके। अचूक होने के नाते पेनिसिलिन की माँग बहुत ज्यादा है। किन्तु अमेरिका पर्याप्त मात्रा में पेनिसिलिन तैयार कर सकने में असमर्थ है। हमारे देश में भी सायन्टिफिक - रिसर्च - इन्स्टीट्यूट (Scientific Research Institute) में प्रचुर मात्रा में पेनिसिलिन तैयार करने के लिए प्रयत्न किये जा रहे हैं। जिस दिन वैज्ञानिक कृत्रिम ढंग पर पेनसिलिन तैयार कर पायेगा, उस दिन से गर्दन तोड़ ज्वर, कार्बकल, न्यूमोनिया सरीखे घातक रोगों से मानव जाति को सदा के लिए छुटकारा मिल जायगा।

अभ्यास के लिए

१—पेनिसिलिन क्या है ? यह इतनी उपयोगी क्यों है ?
२—पेनिसिलिन का आविष्कार किस प्रकार हुआ ?
३—प्रोफेसर फ्लोरे ने पेनिसिलिन को और अधिक उपयोगी किस प्रकार बना दिया ?
४—किन-किन रोगों पेनिसिलिन रामबाण सिद्ध हुआ है ।
५—पेनिसिलिन चिकित्सा में किस बात का ध्यान रखना पड़ता है ?

१४–प्रताप प्रतिज्ञा

[लेखक—श्री जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द']

श्री 'मिलिन्द' जी हिन्दी के एक उदीयमान कवि, नाटककार और लेखक हैं। आप ग्वालियर राज्य के मुरार स्थान के निवासी हैं। आपके गद्य-लेख तथा कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। आपकी शैली भावपूर्ण और ओजस्विनी है। आपकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रचुरता रहती है। आप विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'शान्ति-निकेतन' में हिन्दी के अध्यापक भी रह चुके हैं। 'प्रताप प्रतिज्ञा' नाटक आपका बहुत प्रसिद्ध है। प्रस्तुत अंश इसी नाटक से उद्धृत किया गया है।

[उदयपुर। प्रताप का प्रासाद। प्रभात। विचारमग्न प्रतापसिंह। सहसा सामन्त का प्रवेश]

सामंत—राणा !

प्रताप—(चौंक कर) कौन ? सामन्त जी, कहिए क्या सम्वाद है ?

सामन्त—क्या कहूँ ? बस अब नहीं देखा जाता। जी चाहता है, जन्म-जन्मान्तर के लिये आँखें मूँद लूँ।

प्रताप—क्यों-क्यों ? क्या कोई विशेष घटना ....।

सामंत—नहीं राणा, यही नित्य की दुर्दशा प्रतिदिन नई मालूम होती है। काँटे की तरह इसकी कसक पल-पल पर अपरिचित-सी 'नवीन' जान पड़ती है।

प्रताप—राजमहल का कोई विशेष सम्वाद है ?

सामंत—राजमहल ! उसे राजमहल न कहो राणा, उसके वक्षस्थल पर वासनाओं का वह अविराम ताण्डव देखकर भी क्या उसे पिशाचपुरी न कहना चाहिये ? देखते नहीं हो राणा, आज वाप्पा रावल का वह उज्ज्वल राज-मुकुट कायरता के कलंक से काला हो रहा है। मखमली म्यान में भुवन-विजयी वीरों की करारी कटारी पर जंग चढ़ रहा है। क्या यह सब चुपचाप सह लेने की बात है ? देव ! उस दिन का अमर इतिहास क्या सहज ही में भुलाया जा सकता है, जब......
(कंठावरोध)।

प्रताप—हाँ हाँ, कहो भाई, जब...... ।

सामंत—जब स्वाधीनता की आराध्य देवी, स्वच्छन्द वायु के झकोरों से, स्वर्ण उषा के अधरों से, मुक्त मेघ की बूँदों से, तेजस्वी सूर्य-चन्द्र की स्वतन्त्र किरणों से, इसी मरुभूमि पर उतर कर क्रीड़ा किया करती थी, इसी अभागे मेवाड़ की उन्नत रक्त-ध्वजा उसके पावन चरणों के एक-एक चुम्बन पर प्रफुल्ल हो कर चित्तौड़-दुर्ग के सर्वोच्च शिखर पर बड़े वेग से फहरा उठती थी, तब मेवाड़ को 'अपना' कहते समय हमारे वीर पूर्वजों की छाती फूल जाती थी, मस्तक ऊँचा हो जाता था और आरक्त आँखों के कोनों से सन्तोष और स्वाभिमान की किरणें फूट नकलती थीं। किन्तु अब...... ।

प्रताप—अब भी मेवाड़ को 'माँ' कहते समय किसे रोमांच न होगा ? क्या कहते हो भाई, हम माँ को भूल गये ! सम्भव

है, पर माँ तो हमें नहीं भूली। कल जिसे 'अपनी' कहने में गर्व होता था, उसी को आज कोई केवल इसलिये 'पराई' कैसे कहेगा कि उसे 'अपनी' कहने में लाज लगती है! क्षुब्ध न हों सामन्त जी, शक्ति और साधन तो देशभक्त का शरीर मात्र है। उसकी अन्तरात्मा तो हृदय का उज्ज्वल भाव है, जो हममें उसके लिये पतंगे की तरह मर-मिटने का साहस भर देता है।

सामन्त—फिर भी, जिनके कन्धों पर आज चित्तौड़ के उद्धार का भार है, लाखों प्रजा-जनों की उत्सुक आँखें जिनकी विशाल भुजाओं से आशा रखती हैं, उन्हीं को इस प्रकार विला-सिता और बुजदिली का जीवन बिताने का क्या अधिकार है! मेवाड़ का राजमुकुट इस प्रकार कायरों के मस्तक का भूषण बन कर कब तक अपनी हँसी कराता रहेगा?

प्रताप—यह प्रजा का प्रश्न है, जनता का अधिकार है। मेवाड़ के सच्चे सैनिक अधिकारों के लोभ से सर्वस्व बलिदान नहीं करते। हमारे हृदय में लगन और त्याग की भावना तो हो, सारा संसार क्षण भर में हमारा सहायक बन जायगा।

(नेपथ्य में 'हर हर महादेव', 'मेवाड़ पति की जय', 'महाराणा प्रताप की जय' की ध्वनि)

प्रताप—(चौंक कर) इस कुसमय में विजयनाद कैसा? मेवाड़ के अकिंचन सेवक को किसने कहा, 'महाराणा'? किसकी जय और किसकी विजय? जननी जन्मभूमि चित्तौड़ के उद्धार के पहले यह जय-नाद उपहास-सा प्रतीत होता है।

(चन्द्रावत का एक हाथ में मुकुट और दूसरे में तलवार लिये हुये प्रवेश)

प्रताप—(खड़ा होकर) कौन ! चन्द्रावत कृष्ण जी ! आइये मेवाड़ के छोटे से सैनिक को 'महाराणा' कह कर क्या विनोद करने आये हैं ?

चन्द्रावत—महाराणा ! यह विनोद नहीं, सत्य है—सूर्योदय की तरह सुन्दर और स्पष्ट। आज चित्तौड़ का भाग्य जागा है। उदयपुर से उत्सुक वीर आपको बधाई देने आ रहे हैं।

(राजपूतों का प्रवेश)

राजपूत—महाराणा की जय हो !

(प्रताप किंचित संकुचित होते हैं, फिर उनका स्वागत करते हैं)

सामन्त—(सब को यथा स्थान बिठला कर) सम्भवतः किसी आकस्मिक घटना के आघात से राणा का गृह पवित्र करने को मेवाड़ी वीरों की यह मन्दाकिनी आज इधर से बह निकली है। क्यों न चन्द्रावत जी ?

चन्द्रावत— (खड़ा होकर) वीरो, तुम साक्षी हो। आज मैं प्रजा के प्रतिनिधि की हैसियत से वीरवर वाप्पा रावल का यह उज्ज्वल राजमुकुट—राजपुत्र-प्रताप को नहीं—स्वदेश के सच्चे सैनिक को सौंपता हूँ। इसलिये नहीं कि इसे पहनकर राजा प्रजा पर अत्याचार करें, इसलिये नहीं कि इसे पहनकर प्रताप चित्तौड़ को भूल जायँ, इसलिये नहीं कि इसे पहन कर सेवक प्रभु बन जाय। मैं इसे सैनिक प्रताप को देता हूँ—वीर प्रताप को देता हूँ—व्रती प्रताप को देता हूँ। केवल तेज पर मुग्ध होकर, त्याग को सिर झुका कर, न्याय भक्त बन कर, मातृभूमि पर मर-मिटने की आपकी अमर अभिलाषा से चित्तौड़ के उद्धार की आशा रखकर। वह प्रजा का निर्णय 'नहीं' सुनना नहीं जानता। देव, यह जनता की धरोहर, प्रजा की भेंट स्वीकार कीजिये।

(राजपूत जयनाद करते हैं, प्रताप घुटने टेक देते हैं)

प्रताप—आपके आग्रह के आगे सर झुकाना मेरा धर्म है। मैं खूब जानता हूँ, चन्द्रावत जी, यह काँटों का ताज है, सूलों की सेज है, न्याय की दुधारी तलवार है, त्याग का सर्वोच्च शिखर है। यह मुकुट नहीं कर्त्तव्य स्मरण दिलाने वाला चिह्न है । यह जितना उज्ज्वल है, उतना ही कटु है। यह प्रभुता का चिह्न नहीं सेवा का निशान है; राजकुमारों के विलास का साधन नहीं, वीरों को बलिदान के लिये अग्रसर करने वाला है। मैं इस विष के प्याले को अपने प्रभु की—प्रजा की—आज्ञा से अमृत की तरह पीने को तैयार हूँ।

(चन्द्रावत सर पर मुकुट रखते हैं, हाथ में तलवार देते हैं
राजपूत नाद करते हैं)

प्रताप—(तलवार खींच कर) भवानी तू साक्षी है। जनता-जनार्दन ने आज मुझे अपना सेवक चुना है। मैं आज तुझे छूकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि जन्म भर मातृभूमि मेवाड़ के हित में तन मन, धन सर्वस्व अर्पण करने से मुँह न मोड़ूँगा। सागर मर्यादा, हिमालय गौरव, सूर्य तेज और वायु वेग भले ही छोड़ दें पर यह प्रताप प्राण छोड़कर भी प्रण न छोड़ेगा। भाइयो, जब तक चित्तौड़ का उद्धार न कर लूँगा, सत्य कहता हूँ, कुटी में रहूँगा, पत्तल में खाऊँगा और तृण पर सोऊँगा। आज से ही नहीं इसी क्षण से—मेरे लिये राज प्रासाद, ये स्वर्ण-शृङ्गार और यह आनंद-विहार तृण से भी तुच्छ हैं। माँ का स्वर्ण-संसार आज श्मशान हो रहा है। प्यारे चित्तौड़ में एक भी दीपक नहीं—उसका सम्मान आज यौवनों के पद-रज बन रहा है। क्या अब हम सुख की नींद सो सकते हैं ?

(जन-समूहों से खड्गों की झनकार—'नहीं-नहीं' की ध्वनि)

प्रताप—चित्तौड़ के सपूतो, मेवाड़ के वीरो, आज यदि तुम्हारे उष्ण रक्त में कुछ भी उबाल आता है, तो मेरी प्रतिज्ञा में सहायक बनो।

राजपूत—आपके इङ्गित पर हम हँसते-हँसते मर मिटेंगे।

चन्द्रावत—मेवाड़ के सूर्य, बरसों से जो अभिलाषा इस हृदय में छिपी पड़ी थी, वह आज पूरी हुई। चित्तौड़ की दशा पर तो रोते-रोते आँखें अंधी हो चली थीं, हृदय फटा जाता था, कोई ऐसा नायक नजर न आता था, जिसके इंगित पर मेवाड़ी वीर हँसते-हँसते चित्तौड़ की बलिवेदी पर अपने प्राण होम कर देते। राणा! तुम्हें पाकर आज हम धन्य हैं, मेवाड़ है, और धन्य है सिसौदिया वंश!

प्रताप—वीरो! मेवाड़ के अभिमान! चित्तौड़ की आशा! आज तुम्हें पाकर हृदय उत्साह से भर गया है। चित्तौड़ के खंडहरों का शून्य-हृदय हमारी अकर्मण्यता पर हाहाकार कर रहा है। एक बार फिर उसे स्वाधीनता संग्राम के लाल दिन दिखाने को जी चाहता है। आज से मेवाड़ का प्रत्येक पर्वत हमारा दुर्ग, प्रत्येक वन हमारा युद्ध क्षेत्र और प्रत्येक गुफा हमारा राज-महल होगी। चित्तौड़ का उद्धार हमारा लक्ष्य और बलि-दान हमारा मार्ग होगा। 'हर-हर महादेव!' (प्रस्थान)

अभ्यास के लिये

१—राणा प्रताप का चरित्र-चित्रण कीजिये।

२—सामन्त, राणा प्रताप और चन्द्रावत के बीच जो देश-भक्ति की बातें हुईं, उन्हें अपने शब्दों में लिखिए।

३—निम्नांकित का आशय स्पष्ट कीजिये :—

(क) उसे राजमहल न कहो राणा···कहना चाहिये।

(ख) जब स्वाधीनता की···फूट निकलती हैं।
(ग) यह मुकुट नहीं ··· अग्रसर करने वाला है।

१५—साहित्य और सामाजिक स्थिति

[लेखक—डा० श्यामसुन्दर दास]

हिन्दी के कर्मठ कार्य-कर्त्ताओं में रायबहादुर डाक्टर श्यामसुन्दर दास जी का नाम अग्रगण्य है। आपका जन्म काशी के लाला देवीदास खन्ना के यहाँ हुआ था। बी० ए० तक की शिक्षा प्राप्त करने के बाद कुछ समय तक आप सेन्ट्रल हिन्दू कालेज में अध्यापक रहे। फिर कुछ दिन नहर विभाग और काश्मीर नरेश के यहाँ नौकरी करने के बाद कालीचरन हाई स्कूल लखनऊ के हेडमास्टर हुये। इसके बाद आप बहुत समय तक काशी विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रहे। अव-काश प्राप्त करने के दो-तीन वर्ष बाद यह हिन्दी माता का वरद पुत्र स्वर्गवासी हुआ।

डाक्टर श्यामसुन्दर दास ने हिन्दी प्रचार में अथक परिश्रम किया और सम्पूर्ण जीवन को उत्सर्ग कर दिया। काशी नागरी प्रचारिणी सभा आपका प्रधान कीर्ति-स्तम्भ है। सभा स्थापन-काल से लेकर मृत्यु पर्यन्त आपने हिन्दी की अधिक सेवा की है। आपके ही सम्पादकत्व में हिन्दी शब्द कोष तथा वैज्ञानिक कोष प्रकाशित हुए। आपने सौ से अधिक पुस्तकों का सम्पादन और संकलन किया होगा। वर्षों तक प्राचीन हिन्दी पुस्तकों की खोज भी आप ही की अध्यक्षता में होती रही। साहित्य सम्बन्धी विभिन्न भाषा-विषयों पर आपने कई उच्चकोटि की पुस्तकें लिखी हैं। इनमें भाषा विज्ञान, साहित्यालोचन, हिन्दी भाषा और साहित्य, रूपक-रहस्य और गोस्वामी तुलसीदास प्रमुख हैं। आपकी साहित्य-सेवा के ही कारण काशी-विश्वविद्यालय ने डी० लिट्० की उपाधि से आपको विभूषित किया था।

डाक्टर श्यामसुन्दर दास शुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे। आपकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य रहता है। उर्दू शब्दों और मुहावरों का सर्वथा अभाव है। आपकी लेखन-शैली गम्भीर, परिष्कृत एवं विषयानुकूल परिवर्तनशील है। हिन्दी में आप पंचम वर्णों का प्रयोग उचित नहीं समझते और सर्वत्र विंदु से ही काम चलाते थे।

'साहित्य और समाज' आपका एक सुन्दर लेख है।

सामाजिक मस्तिष्क अपने पोषण के लिये जो भाव-सामग्री निकाल कर समाज को सौंपता है, उनके संचित भंडार का नाम साहित्य है। अतः किसी जाति के साहित्य को हम उस जाति की सामाजिक शक्ति या सभ्यता का निदर्शक कह सकते हैं। वह उसका प्रतिरूप, प्रतिच्छाया या प्रतिबिंब कहला सकता है। जैसी उसकी सामाजिक अवस्था होगी, वैसा ही उसका साहित्य होगा। किसी जाति के साहित्य को देखकर हम यह स्पष्ट बता सकते हैं कि उसकी सामाजिक अवस्था कैसी है, वह सभ्यता की सीढ़ी के किस डंडे तक चढ़ सकी है। साहित्य का मुख्य उद्देश्य विचारों के विधान तथा घटनाओं की स्मृति को सुरक्षित रखना है। पहले-पहल अद्भुत बातों को देखने से जो मनोविकार उत्पन्न होते हैं उन्हे वाणी द्वारा प्रदर्शित करने की स्फूर्ति होती है। धीरे-धीरे युद्धों के वर्णन, अद्भुत घटनाओं के उल्लेख और कर्मकांड के विधानों तथा नियमों के निर्धारण में वाणी का विशेष स्थायी रूप में उपयोग होने लगता है। इस प्रकार वह सामाजिक जीवन का एक प्रधान अंश हो जाती है।

एक विचार को सुन या पढ़ कर दूसरे विचार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार विचारों की एक शृंखला बँध जाती है, जिससे साहित्य के विशेष अंगों की सृष्टि होती है। मस्तिष्क को क्रियमाण रखने तथा उसके विकास और वृद्धि में सहायता पहुँचाने

के लिये साहित्य रूपी भोजन की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार का यह भोजन होगा वैसी ही मस्तिष्क की स्थिति होगी। जैसे शरीर की स्थिति और वृद्धि के लिये अनुकूल आहार की अपेक्षा होती है उसी प्रकार मस्तिष्क के विकास के लिये साहित्य का प्रयोजन होता है। मनुष्य के विचारों में प्राकृतिक अवस्था का बहुत भारी प्रभाव पड़ता है। शीत-प्रधान देशों में अपने को जीवित रखने के लिये निरंतर परिश्रम करने की आवश्यकता रहती है। ऐसे देशों में रहने वाले मनुष्यों का सारा समय अपनी रक्षा के उपायों के सोचने और उन्हीं का अवलंबन करने में बीत जाता है। अतएव क्रम-क्रम से उन्हीं सांसारिक बातों से अधिक ममता हो जाती है और वे अपने जीवन का उद्देश्य सांसारिक वैभव प्राप्त करना ही मानने लगते हैं।

जहाँ उसके प्रतिकूल अवस्था है वहाँ आलस्य का प्राबल्य होता है। जब प्रकृति ने खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने का सामान प्रस्तुत कर दिया तब फिर उसकी चिंता ही कहाँ रह जाती है। भारत भूमि को प्रकृति देवि का प्रिय और प्रकांड क्रीड़ा-क्षेत्र समझना चाहिये। यहाँ सब ऋतुओं का आवागमन होता रहता है। जल की यहाँ प्रचुरता है। भूमि भी इतनी उर्वरा है कि सब कुछ खाद्य-पदार्थ यहाँ उत्पन्न हो सकते हैं। फिर इसकी चिंता यहाँ के निवासी कैसे कर सकते हैं? इस अवस्था में या तो सांसारिक बातों से हट कर मन जीवात्मा और परमात्मा की ओर लग जाता है अथवा विलास-प्रियता में फँसकर इन्द्रियों का शिकार बन बैठता है। यही मुख्य कारण है कि यहाँ का साहित्य धार्मिक विचारों पर शृङ्गार रस के काव्यों से भरा हुआ है। अस्तु, जो कुछ मैंने अब तक निवेदन किया है, उससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मनुष्य की सामाजिक स्थिति के विकास में साहित्य का प्रधान योग रहता है।

यदि संसार के इतिहास की ओर हम ध्यान देते हैं तो हमें यह भली-भाँति विदित होता है कि साहित्य ने मनुष्यों की सामाजिक स्थिति में कैसा परिवर्तन कर दिया है। पाश्चात्य देशों में एक समय धर्म सम्बन्धी शक्ति पोप के हाथ में आ गई थी। माध्यमिक काल में इस शक्ति का बड़ा दुरुपयोग होने लगा। अतएव जब पुनरुत्थान ने वर्तमान काल का सूत्रपात किया और यूरोपीय मस्तिष्क स्वतन्त्रता देवी की आराधना में रत हुआ तब पहला काम जो उसने किया, वह धर्म के विरुद्ध विद्रोह खड़ा करना था। इसका परिणाम यह हुआ कि यूरोपीय कार्यक्षेत्र से धर्म का प्रभाव हटा और व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की लालसा बढ़ी। यह कौन नहीं जानता कि फ्रांस की राज्यक्रांति का सूत्रपात रूसो और वालटेयर के लेखों ने किया और इटली के पुनरुत्थान का बीज मेजिनी के लेखों ने बोया। भारतवर्ष में भी साहित्य का प्रभाव इसकी अवस्था पर कम नहीं पड़ा। यहाँ की प्राकृतिक अवस्था के कारण सांसारिक चिंता ने लोगों को अधिक न ग्रसा। उनका विशेष ध्यान धर्म की ओर रहा। जब-जब उनमें अव्यवस्था और अनीति की वृद्धि हुई, नये विचारों, नई संस्थाओं की सृष्टि हुई। बौद्ध धर्म और आर्यसमाज का प्राबल्य और प्रचार ऐसी ही स्थिति के बीच हुआ। इस्लाम और हिन्दू धर्म जब परस्पर पड़ोसी हुए तब दोनों में से कूपमंडूकता का भाव निकालने के लिए कबीर, नानक आदि का प्रादुर्भाव हुआ। अतः यह स्पष्ट है कि मानव-जीवन की सामाजिक गति में साहित्य का स्थान बड़े गौरव का है।

अब यह प्रश्न उठता है कि जिस साहित्य के प्रभाव से संसार में इतने उलट-फेर हुए हैं, जिसने यूरोप के गौरव को बढ़ाया, जो मनुष्य समाज का हित-विधायक मित्र है, वह क्या हमें राष्ट्र-निर्माण में सहायता नहीं दे सकता? क्या हमारे देश की उन्नति

करनें में हमारा पथ-प्रदर्शक नहीं हो सकता ? हो अवश्य सकता है। यदि हमलोग जीवन के व्यवहार में उसे अपने साथ-साथ लेते चलें, उसे पीछे न छूटनें दें। यदि हमारे जीवन का प्रवाह दूसरी ओर को है, तब तो हमारा उसका प्रकृत संयोग ही नहीं हो सकता।

अब तक जो वह हमारा सहायक नहीं हो सका है, इसके दो मुख्य कारण हैं। एक तो इस विस्तृत देश की स्थिति एकान्त रही है और दूसरे इसमें संघ शक्ति का संचार जैसा चाहिये, वैसा नहीं हो सका है और यह अब तक आलसी और सुखलोलुप बना हुआ है। परन्तु अब इन अवस्थाओं में परिवर्तन हो चला है। इसके विस्तार, दुर्गमता और स्थिति की एकान्तता को आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों ने एक प्रकार से निर्मूल कर दिया है और प्राकृतिक वैभव का लाभालाभ बहुत कुछ तीव्र जीवन-संग्राम की सामर्थ्य पर निर्भर है।

यह जीवन-संग्राम दो भिन्न सभ्यताओं के संघर्षण से और भी तीव्र और दुःखमय प्रतीत होनें लगा है। इस अवस्था के अनुकूल ही जब साहित्य उत्पन्न होकर समाज के मस्तिष्क को प्रोत्साहित और प्रतिक्रियमाण करेगा तभी वास्तविक उन्नति के लक्षण देख पड़ेंगे और उसका कल्याणकारी फल देश को आधुनिक काल का गौरव प्रदान करेगा।

अब विचारणीय यह है कि वह साहित्य किस प्रकार का होना चाहिए, जिससे कथित उद्देश्य की सिद्धि हो सके ? मेरे विचार के अनुसार इस समय हमें विशेषकर ऐसे साहित्य की आवश्यकता है, जो मनोवेगों का परिष्कार करनें वाला, संजीवनी शक्ति का संचार करनें वाला, चरित्र को सुन्दर साँचे में ढालनें वाला तथा बुद्धि को तीव्रता प्रदान करनें वाला हो। साथ ही इस

बात की भी आवश्यकता है कि यह साहित्य परिमार्जित, सरल और ओजस्विनी भाषा में तैयार किया जाय। इसको सब लोग स्वीकार करेंगे कि ऐसे साहित्य का हमारी हिन्दी भाषा में अभी तक बड़ा अभाव है, पर शुभ लक्षण चारों ओर देखने में आ रहे हैं, और यह दृढ़ आशा होती है कि थोड़े ही दिनों में उसका उदय दिखाई पड़ेगा, जिससे जनसमुदाय की आँखें खुलेंगी और भारतीय जीवन का प्रत्येक विभाग ज्ञान की ज्योति से जगमगा उठेगा।

अभ्यास के लिए

१—साहित्य क्या है? मनुष्य की सामाजिक स्थिति के विकास में साहित्य क्या करता है?

२—साहित्य की शक्ति का वर्णन कीजिये।

३—हमारा साहित्य राष्ट्र-निर्माण में अब तक वांछित सहयोग क्यों नहीं दे सका?

४—भारत के लिये किस प्रकार के साहित्य की आवश्यकता है?

५—डा० श्यामसुन्दर दास की साहित्य-सेवाओं का उल्लेख कीजिये और उनकी गद्य-शैली पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

१६—विश्व-कवि रवीन्द्र

[लेखक—श्री गुलाब राय एम० ए०, एल०-एल० बी०]

श्री गुलाब राय हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् एवं आलोचक हैं। आप मैनपुरी, उत्तर प्रदेश के निवासी हैं। कई वर्ष महाराजा छत्रपुर के प्राइवेट सेक्रेटरी रह चुकने पर पेंशन ग्रहण की। आजकल आप सेन्ट जान्स कालेज, आगरा में हिन्दी के अध्यापक हैं और 'साहित्य-सन्देश' मासिक पत्र का संपादन भी कर रहे हैं। आपका दर्शनशास्त्र एवं साहित्य

दोनों पर समान अधिकार है। 'नवरस' ग्रंथ एवं हास्यरस पर लिखे हुये अत्यन्त सफल निबन्ध आपकी साहित्यिक मर्मज्ञता का पूर्ण परिचय देते हैं और 'तर्क-शास्त्र', 'कर्त्तव्य शास्त्र' तथा 'फिर निराश क्यों' इत्यादि प्रकाशित दर्शन-ग्रंथ भी प्रशंसनीय हैं।

प्रबन्ध प्रभाकर, हिन्दी नाट्य विमर्श, साहित्य का सुबोध इतिहास, प्रसाद की कला तथा सिद्धान्त और अध्ययन इनके उत्कृष्ट आलोचनात्मक ग्रंथ हैं। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में आपके निबन्ध बहुधा प्रकाशित हुआ करते हैं। आपके लेख गम्भीर और विचारपूर्ण होते हैं। आपकी भाषा संस्कृत मिश्रित हिन्दी का उत्कृष्ट रूप है।

हिन्दी निबन्धकारों में आपका स्थान विशेष महत्व का है। प्रस्तुत निबन्ध 'विश्व कवि रवीन्द्र' आप ही की कृति है।

बङ्गाल में ठाकुर परिवार साहित्य, संगीत और कला में प्रवीणता के लिये प्रख्यात है। उस घर में सरस्वती और लक्ष्मी अपने स्वाभाविक वैमनस्य को त्याग कर चिरकाल से एक दूसरे का अनुरंजन करती हुई विलास करती रही हैं। रवीन्द्र बाबू के जन्म के समय इस कुल में तत्कालीन बङ्गाल की धार्मिक, सामाजिक एवं साहित्यिक जागृति के स्रोत स्वच्छन्दता से परन्तु मर्यादित रूप में बह रहे थे। कवि के पूज्य पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ब्रह्मसमाज के एकेश्वरवाद में दृढ़ विश्वासी होते हुए भी हिन्दू संरक्षक थे। वे बङ्गाल में ईसाई-धर्म की बाढ़ को, जो कि कालीचरन बेनर्जी लालबिहारी दे, कृष्णमोहन बेनर्जी, माइकेल मधुसूदन दत्त जैसे नर-रत्नों को अपने प्रवाह में बहा ले गई थी, रोकने में बड़े सहायक हुए।

रवीन्द्र बाबू का जन्म ६ मई सन् १८६१ में हुआ। यह समय बङ्गाल में साहित्यिक बसन्त गिना जाता है। इस बात

को कहने की आवश्यकता नहीं कि रवीन्द्र बाबू में आगे चलकर इस बसन्त-श्री का पुनीत प्रभाव पूर्णतया प्रस्फुटित हुआ।

रवीन्द्र बाबू का बाल्यकाल ठाकुर परिवार के जोड़ासाँको नामक प्रासाद में व्यतीत हुआ। यह स्थान कलकत्ता नगर के केन्द्र में है, जहाँ से वे मानव-जीवन के चित्र-विचित्र दृश्यों को पंजरबद्ध पक्षी की भाँति देखा करते थे। वे नौकरों द्वारा खींची हुई रेखा का उल्लङ्घन नहीं कर सकते थे। उन्होंने 'जीवन-स्मृति' में अपने घर के जँगले में से देखे हुये निकटस्थ कुण्ड पर स्नान करने वालों का क्रिया-विधान बड़े मनोरञ्जक शब्दों में लिखा है। इतने सम्पन्न परिवार में जन्म लेकर भी उनके बाल्यकाल के जीवन में विलासिता लेशमात्र भी न थी। दस वर्ष की अवस्था तक उन्होंने मोजे और जूतों का व्यवहार नहीं जाना था। जाड़े के दिनों में एक कुर्ते के ऊपर दूसरा कुर्ता ही पहन लेना पर्याप्त होता था। हाँ, जब कभी उनका दर्जी, नियामत, कुर्ते में जेब लगाना भूल जाता था तो वह अवश्य असंतोष का कारण होता था। क्योंकि कोई भी ऐसा गरीब परिवार नहीं है कि जिसके बच्चे अपने कपड़ों में जेब न रखते हों और कोई भी ऐसा बच्चा नहीं जो अपनी जेबों के लिये कुछ सामग्री न जुटा सकता हो। इस प्रकार की सामग्री में गरीब और अमीर बच्चों में कोई अन्तर नहीं होता। बचपन में साम्यवाद की प्रधानता रहती है।

बालक रवीन्द्र का वही हाल था, जो प्रायः बड़े आदमियों के लड़कों का होता है। बहुत बड़े आदमी अपने बच्चों की देख-रेख स्वयं नहीं कर सकते। इसके लिये उन्हें फुरसत कहाँ? नौकरशाही में ही उनका लालन-पालन हुआ और उसकी उनको बड़ी कटु-स्मृति है। वे उसको गुलाम बादशाहों के राज्य के

समान अव्यवस्थित वतलाते हैं। वे लोग, 'लालनें वह्वो दोषा-स्तडनें वह्वो गुणाः' के माननें वाले थे। उनकी शिक्षा में ताड़ना की मात्रा अधिक थी। बाल्यकाल की स्वतन्त्रता क अभाव ने ही उनके मन में स्वतन्त्रता का उचित मूल्य स्थापित कर दिया था। थोड़ी सी स्वतन्त्रता को वे ईश्वरदत्त वर मानते थे। अपनें ऊपर की हुई स्कूल की सख्ती का वदला वे अपनें वरामदे में लगी हुई कठसोई के डंडों को विद्यार्थी मान, उनको वेतों की मार लगाकर निकाल लेते थे। एक वार ग्यारह वर्ष की अवस्था में जव उनको अपनें पूज्य पिता जी के साथ यात्रा में जानें का सौभाग्य प्राप्त हुआ तव से नौकरशाही के कठिन वन्धन शिथिल हो गए और उनके लौटनें पर वे नौकरों के अधिकार में न रह कर भीतर घर में रहनें लगे।

अन्य वड़े आदमियों की भाँति उनको भी स्कूल के पाठ्य-क्रम से अरुचि थी। उनकी स्कूल-शिक्षा की व्यवस्था ठीक न रही। उनके एक वड़े भाई जज थे। उनका परिवार 'ब्राइटन' में रहता था। वे रवीन्द्र वावू को शिक्षा के लिए विलायत ले गए। व्याव-हारिक दृष्टि से वहाँ भी उनकी शिक्षा का क्रम ठीक न रहा किंतु वहाँ उन्होंनें अंग्रेजी साहित्य का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। काव्य-रचना तो वे प्रायः बाल्यकाल से ही करनें लगे थे और विलायत में बँगला की कविता करते थे। विलायत के सहपाठियों में उन्होंनें 'लोकन पालित' के नाम का उल्लेख वड़े स्नेह और आदर के साथ किया है। गानें के लिये उनका कंठ शुरू से ही मधुर था। गानें के इस माधुर्य के कारण उनको एक वार दण्ड भुगतना पड़ा। किसी भारतीय सिविल सर्विस के अफसर की विधवा को उसके पति-देव की स्मृति में वनाये हुए एक बंगाली करुण-गीत को विहाग राग में सुननें की चाट लग गई थी। रवि वावू का गायन तो मधुर था ही, किन्तु अपने मेहमानों

को उसी गीत के सुनवाने में उस अँग्रेज की विधवा के आत्म-भाव की भी वृद्धि होती थी। वह गीत विहाग में गाने का न था। उसके गाने में रवीन्द्र बाबू को एक विशेष कष्ट होता था, जिसका एक सुगायक ही अनुभव कर सकता है। एक बार उसी महिला ने उनको लन्दन से विलायत के किसी ग्राम में बुलाया। वे बेचारे रात में पहुँचे, भोजन भी न मिला, भूखे पेट सोना पड़ा; रात को सराय में ठहरना पड़ा, सुबह को खाना बासी मिला—जो यदि रात को ही दे दिया जाता तो कुछ अंग लगता और सब से बड़ी बात यह है कि जिस महिला को गीत सुनाने के लिए वे बुलाये गये थे, वह बीमार थी, उसके दर्शन भी न हुए और उनको कमरे के बाहर से ही गीत सुनाना पड़ा। लन्दन लौटने पर वे बीमार पड़ गये और डाक्टर स्काट से जिनके यहाँ वे ठहरे थे, उन्होंने सब हाल कहा। उनकी लड़कियों ने बड़ी लज्जा प्रकट करते हुए कहा कि इस उदाहरण से अँग्रेजी मेहमानदारी का अन्दाजा न लगाइये। यह तो उस महिला के भारत में रहने का फल है। रवीन्द्र बाबू ने इङ्गलिस्तान के लोगों की ईमानदारी की बहुत प्रशंसा की है। वहाँ के कुलियों का तो कहना क्या, भिक्षुक भी ईमानदार हैं।

रवीन्द्र बाबू का जीवन कोरी काव्य-रचना में ही नहीं बीता था। उनके पूज्य पिता जी ने अपने अन्य पुत्रों की फिजूलखर्ची और अव्यावहारिकता देखकर रवि बाबू को उनकी इच्छा के विरुद्ध जमींदारी का कार्य सौंप दिया। वे महर्षि की आज्ञा उल्लंघन नहीं कर सकते थे, अतः वे अपने गाँव में चले गये। वहाँ पद्मा (गङ्गा जी का दूसरा नाम) के किनारे का वातावरण उनके मानसिक स्वास्थ्य के लिये बहुत अनुकूल पड़ा। उनकी रचनाओं में गंगा; तरी और धान के खेतों की अधिक छाया मिलती है। इस काल में उनकी प्रतिभा का प्रकाश खूब चमका और उन्होंने अमी-

दारी के काम के साथ-साथ बड़ी उच्च कोटि की साहित्य की सेवा की। वहाँ से 'भारती' और 'साधना' नाम की पत्रिकाएँ भी निकालीं। उनकी 'सोनार तरी' नामक गीत-काव्यों की संग्रहात्मक पुस्तक, जो सन् १८६१ से १८६३ तक लिखी गई, उस समय की रचनाओं की प्रतिनिधि स्वरूपा है। उसके पश्चात् सन् १८६८ से लगाकर १६०५ तक धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक उथल-पुथल का समय आता है। इस काल में उन्होंने धार्मिक काव्य लिखा और बहुत-सा समय शान्ति निकेतन में व्यतीत किया। धार्मिक काव्य के सम्बन्ध में एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है, वह यह कि उन्होंने वैष्णव कवियों का अनुकरण करते हुए भानुसिंह (रवि और भानु पर्यायवाची शब्द हैं) के नाम से कुछ काव्य लिखा। अनुकरण की उत्तमता के कारण लोग सहज में ही धोखे में आ गये, यहाँ तक कि डाक्टर निशिकांत चटर्जी ने अपनी डाक्टरेट की उपाधि के लिये पेश किये हुये लेख में प्राचीन बंगला गीति काव्य के सम्बन्ध में लिखते हुये भानुसिंह की कविता को बड़े आदर का स्थान दिया है। आश्चर्य की बात है कि उस लेख पर उनको डाक्टर की उपाधि भी मिल गई।

सन् १६०५ से लेकर सन् १६१६ तक उनकी 'गीताञ्जलि' और उसके कारण उनकी बढ़ती हुई ख्याति का समय है। 'गीताञ्जलि' की कविताओं का अंग्रेजी अनुवाद उन्होंने कुछ स्यालदह में और कुछ स्वास्थ्य सुधार के निमित्त विलायत जाते समय जहाज पर किया। इङ्गलिस्तान में रवीन्द्र बाबू ने वह अनुवाद अपने दो-एक मित्रों को दिखलाया। लोग उसकी आध्यात्मिकता और संगीतमयता को देखकर चकित हो गये। स्वयं रवीन्द्र बाबू को भी उसके लिये इतनी आशा न थी। सन् १६१३ में, जब कि रवीन्द्र बाबू शांति-निकेतन में ही थे,

उनके 'नोबेलपुरस्कार', पाने की सूचना उनको मिली। उस सूचना का सारे भारत ने सहर्ष स्वागत किया। 'नोबेल पुरस्कार', का मिलना भारत के ही नहीं, सारी एशिया के लिये गौरव की बात थी। ब्रिटिश साम्राज्य में भी साहित्य के लिये यह शायद दूसरा ही पुरस्कार था। पहला पुरस्कार रुडयर्ड किपलिंग को मिला था। उस समय से रवीन्द्र बाबू की ख्याति दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती रही है। यूरोप और अमेरिका में वे कई बड़ी-बड़ी व्याख्यान-मालाओं के देने के लिये आमन्त्रित हुये। नोबेल पुरस्कार से जो द्रव्य मिला तथा उनके व्याख्यानों की सब आय कवि की प्रियसंस्था 'शान्ति-निकेतन' की उपयोगिता बढ़ाने में खर्च हुई। सन् १६१६ के बाद भी रचना-कार्य स्थगित नहीं हुआ। उन्होंने विदेशों की खूब यात्रा की और सभी जगह उचित सम्मान पाया। वे चीन और जापान भी गये थे। बाद में वे हवाई जहाज द्वारा ईरान भी गए। इस प्रकार उन्होंने अपने पर्यटन द्वारा एक विश्व बन्धुत्व स्थापित कर दिया है। उनकी स्थापित की हुई 'विश्वभारती' जिसका 'यत्र विश्वं भवत्येक-नीडम्'—अर्थात् 'जहाँ पर सारा विश्व एक घोंसला बन गया है' आदर्श वाक्य है, विश्व बन्धुत्व के भाव को चारितार्थ कर रही है। उनका सिद्धान्त है कि एक दूसरे की संस्कृति को समझ कर लोग एक दूसरे के साथ भ्रातृ-भाव रखें।

रवीन्द्र बाबू के कवित्व के सम्बन्ध में भी दो-एक शब्द कहना अनुपयुक्त न होगा।

रवीन्द्र बाबू की कविताओं का बड़ा विस्तार है। समुद्र की भाँति जैसा उनका विस्तार है, वैसा ही उनका गाम्भीर्य भी है। उनमें सत्कवि के सभी गुण हैं। उनकी कल्पना बड़ी उर्वरा है, शब्दचित्र खींचने में वे बड़े ही निपुण हैं। उनकी लेखनी चित्रकार की तूलिका को बहुत पीछे छोड़ देती है। काव्य में

बिना अनावश्यक और निरर्थक शब्दों का समावेश किये संगीत उत्पन्न करने में बहुत थोड़े लोग उनकी बराबरी कर सकते हैं। उन्होंने अगणित नवीन छन्दों का निर्माण किया है। उन्होंने साहित्य, संगीत का अनुपम योग किया है। उनकी सरलता में गौरव और गाम्भीर्य है। इस छोटे से निबन्ध में उनकी कविता का दिग्दर्शन मात्र कराया जा सकता है।

उनकी कविता केवल कविता नहीं है, वरन् उसमें एक आध्यात्मिकता भरी हुई है। उनकी कविता को उनके दार्शनिक और धार्मिक भावों से अलग करना कठिन होगा। उन्होंने लौकिक कविता की है, किन्तु उस लौकिक में भी एक दैवी आभा दिखाई पड़ती है। वास्तव में कवि के लिये संसार और स्वर्ग में भेद नहीं। वे सुख-दुःखमय संसार को ही प्रधानता देते हैं।

इसी प्रकार उनकी कविता में भी यह नहीं मालूम पड़ता कि उसमें कहाँ तक लौकिक शृङ्गार है और कहाँ तक दिव्य रूप। 'सोनार तरी' की कविताओं में उन्होंने घरेलू चित्र खींचे हैं। वे सब कविताएँ आध्यात्मिक महत्व रखती हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं कि सभी कविताओं में खींच-तान कर आध्यात्मिक अर्थ लगाये जायँ; किन्तु उनकी अधिकांश कवि-ताओं में आध्यात्मिक गाम्भीर्य है। 'गार्डनर' में संग्रहीत कुछ कविताएँ ऐसी हैं जिनमें शृङ्गार की मात्रा अधिक है और आध्या-त्मिकता की मात्रा कम; किन्तु उनके शृङ्गार और करुण सब में विश्वतन्त्री की झङ्कार सुनाई पड़ती है। उनका शृङ्गार और मिलन भी आत्मा के विकास के लिये ही है। वे बाह्य-सौंदर्य का महत्व स्वीकार करते हुये भी आध्यात्मिक आन्तरिक सौन्दर्य को अधिक महत्व देते हैं। इस सम्बन्ध में उनकी 'चित्रांगदा' पढ़ने योग्य है। सौंदर्य तत्व की उसमें बड़ी सूक्ष्म और गम्भीर विवेचना है।

रवीन्द्र बाबू के सौन्दर्य बोध के सम्बन्ध में इतना और कह देना अनुपयुक्त न होगा कि वे सौंदर्य को विषय-गत (objective) और विषयी-गत (subjective) दोनों ही मानते हैं; अर्थात् सौन्दर्य वस्तु में भी है और द्रष्टा की दृष्टि में भी। विहारी के शब्दों में 'रूप रिझावन हार यह वे नयना रिझवार।'

रवीन्द्र बाबू यह मानते हैं कि सौन्दर्य का अच्छा उपभोग आत्मा द्वारा ही हो सकता है; क्योंकि वह आत्मा की ही वस्तु है।

वे कला और आचार का विच्छेद नहीं करना चाहते। उनकी कविता में कला है, किन्तु उसमें आचार सम्बन्धी अराजकता नहीं है, उसमें मर्यादा है। वे तुलसीदास जी की भाँति उसी कविता को उत्तम मानते हैं जो 'सुर-सरिता सम सब कहँ हितकर होई।' उन्होंने अपनी कविता में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का आदर्श चरितार्थ किया है।

रवीन्द्र बाबू ने प्रायः सभी रसों पर लिखा है; किन्तु यहाँ पर उन सब का वर्णन नहीं हो सकता।

उनका एक विशेष व्यक्तित्व था, जो अपना स्वाभाविक आकर्षण रखता था। वे सच्चे कवि थे, उनका जीवन काव्यमय था। वे संसार के प्रमुख कवियों में गिने जाते हैं। भारत का गौरव उन्होंने बहुत ऊँचा किया है।

अभ्यास के लिए

१—बचपन में रवीन्द्र बाबू किनके निरीक्षण में और किस प्रकार जीवन व्यतीत करते थे ?

२—रवि बाबू की कवित्व-शक्ति का विकास कब आरम्भ हुआ ?

३—'नोवेल-पुरस्कार' के विषय में आप क्या जानते हैं ? कवि को यह पुरस्कार किस रचना पर मिला था ?

४—भावार्थ स्पष्ट कीजिये—

(क) यह समय बंगाल में साहित्यिक महत्त्व का माना जाता है।

(ख) वे सौन्दर्य को विषयीगत और विषयगत दोनों ही मानते हैं।
(ग) उनकी कविता में कला है; किन्तु उनमें आचार सम्बन्धी अराजकता नहीं है।

५—श्री गुलाब राय के साहित्यिक जीवन पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

१७—मधूलिका

[लेखक—श्री जयशंकर 'प्रसाद']

श्रीयुत् 'प्रसाद' जी हिन्दी साहित्य में बहुमुखी प्रतिभा लेकर अवतरित हुए थे। अपनी साहित्यिक सेवाओं द्वारा आपने हिन्दी की महान् श्रीवृद्धि की है। आप आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रवर्त्तकों में से हैं। आपने गद्य और पद्य दोनों प्रकार के साहित्य का निर्माण किया है। गद्यकार के रूप में 'प्रसाद' जी ने गद्य के सभी अंगों की पूर्ति की है। मौलिक नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, समालोचनाएँ आदि लिखकर आपने हिन्दी को विशेष रूप से गौरवान्वित किया है।

'प्रसाद' जी का जन्म माघ शुक्ल १० सं० १९४६ वि० में काशी में हुआ था। आपने अपने घर ही पर हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, फारसी तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं का अध्ययन किया और पूज्य पिता के देहावसान के उपरान्त आप देवी सरस्वती की आराधना तथा पैतृक-व्यवसाय दोनों कार्यों को साथ ही साथ बड़ी ही संलग्नता से चलाते रहे। हिन्दी-जगत को अतुल सम्पत्ति देकर 'प्रसाद' जी सं० १९९४ में इस संसार से विदा हो गये।

'प्रसाद' जी ने चन्द्रगुप्त, अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, राज्यश्री, विशाख, जन्मेजय का नाग यज्ञ, कामना, एक घूँट—आदि मौलिक नाटक लिख कर हमारे अतीत का उज्ज्वल स्वरूप हमारे सामने रखा है। इसी प्रकार उन्होंने अनेक कहानियाँ लिखकर हमारे सम्मुख आदर्श चित्र उपस्थित

किये हैं। 'आकाश-दीप', 'आँधी', 'प्रतिध्वनि' आपकी कहानियों के संग्रह हैं। 'तितली' तथा 'कंकाल' आपके यथार्थवादी उपन्यास हैं। महाकाव्य 'कामायनी' पर आपको 'मंगला प्रसाद पुरस्कार' प्राप्त हुआ है। 'आँसू'— 'प्रसाद' जी का स्वानुभूति व्यंजक छन्दों का संग्रह है,—'लहर', 'झरना' तथा 'कविता कानन' उनकी अन्य कविताओं के संग्रह हैं। 'चित्राधार' में आपकी प्रारम्भिक कविताएँ संग्रहीत हैं।

'प्रसाद' जी की भाषा संस्कृतनिष्ठ है, शब्द-चयन बड़ा ही मधुर होता है तथा लेखों में अर्थ गाम्भीर्य एवं माधुर्य—दोनों की ही प्रचुरता रहती है। 'प्रसाद' जी हिन्दी के एक सफल कहानी-लेखक हैं। आपकी कहानियाँ बड़े ही रोचक ढंग से प्रारम्भ होती हैं। उनके कथोपकथन आकर्षक एवं सुसंयत हैं तथा उनका अंत सदैव व्यंजनात्मक होता है। आपकी कहानियाँ भावना-प्रधान होती हैं। उनमें यथार्थवाद अपेक्षा-कृत न्यून होता है पर आदर्शवाद की गहरी छाप रहती है।

आर्द्रा नक्षत्र, आकाश में काले-काले बादलों की घुमड़, जिसमें देव-दुन्दुभी का गम्भीर घोष, प्राची के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण-पुरुष झाँकने लगा था, देखने लगा महाराज की सवारी। शैलमाला के अंचल में समतल उर्वर-भूमि में सोंधी बास उठ रही थी। नगर तोरण से जय-घोष हुआ, भीड़ में गजराज का चामरधारी शुन्ड उन्नत दिखाई पड़ा। हर्ष और उत्साह का वह समुद्र हिलोरें भरता हुआ आगे बढ़ने लगा। जनता ने मङ्गल-सूचक हर्ष-ध्वनि की।

रथों, हाथियों और अश्वारोहियों की पंक्ति जम गई। दर्शकों की भीड़ भी कम न थी। गजराज बैठ गया, सीढ़ियों से महाराज उतरे। सौभाग्यवती और कुमारी सुन्दरियों के दो दल, आम्र-पल्लवों से सुशोभित मङ्गल-कलश और फूल, कुंकुम तथा खीलों से भरे थाल लिये, मधुर गान करते हुये आगे बढ़े।

महाराज के मुख पर मधुर मुस्क्यान थी। पुरोहितवर्ग ने स्वस्त्ययन किया। स्वर्ण-रञ्जित हल की मूठ पकड़ कर महाराज ने जुते हुये सुन्दर पुष्ट बैलों को चलने का संकेत किया। बाजे बजने लगे। किशोरी कुमारियों ने खीलों और फूलों की वर्षा की।

कोशल का उत्सव प्रसिद्ध था। एक दिन के लिये महाराज को कृषक बनना पड़ा—उस दिन इन्द्र-पूजन की धूम-धाम होती, गोठ होती। नगर-निवासी उस पहाड़ी भूमि में आनन्द मनाते। प्रति वर्ष कृषि का यह महोत्सव उत्साह से सम्पन्न होता; दूसरे राज्यों से भी युवक राजकुमार इस उत्सव में आकर बड़े चाव से योग देते।

मगध का एक राजकुमार अरुण अपने रथ पर बैठा बड़े कौतूहल से यह दृश्य देख रहा था।

बीजों का एक थाल लिये कुमारी मधूलिका महाराज के साथ थी। बीज बोते हुये महाराज जब हाथ बढ़ाते तब मधूलिका उनके सामने थाल कर देती। यह खेत मधूलिका का था, जो इस साल महाराज की खेती के लिये चुना गया था। इसलिये बीज देने का सम्मान मधूलिका ही को मिला। वह कुमारी थी, सुन्दरी थी। कौशेय-वसन उसके शरीर पर इधर-उधर लहराता हुआ स्वयं शोभित हो रहा था। वह कभी उसे सम्हालती और कभी अपने रूखे अलकों को। कृषक-बालिका के शुभ्र भाल पर श्रम-कणों की भी कमी न थी। वे सब बरौनियों में गुँथे जा रहे थे। सम्मान और लज्जा उसके अधरों पर मन्द मुस्कराहट के साथ सिहर उठते किन्तु महाराज को बीज देने में उसने शिथिलता न दिखाई। सब लोग महाराज का हल चलाना देख रहे थे—विस्मय से, कौतूहल से, और अरुण देख रहा था कृषक कुमारी मधूलिका को—आह! कितना भोला सौन्दर्य! कितनी सरल चितवन!

उत्सव का प्रधान कृत्य समाप्त हो गया। महाराज ने मधूलिका के खेत का पुरस्कार दिया, थाल में कुछ स्वर्ण-मुद्रायें। वह राजकीय अनुग्रह था। मधूलिका ने थाल सिर से लगाया, किन्तु साथ ही उसमें की स्वर्ण-मुद्राओं को महाराज पर न्योछावर कर बिखेर दिया। मधूलिका की उस समय की ऊर्जस्वित मूर्त्ति लोग आश्चर्य से देखने लगे। महाराज की भृकुटि भी जरा चढ़ी ही थी कि मधूलिका ने सविनय कहा—

"देव! यह मेरे पितृ-पितामहों की भूमि है। इसे वेचना अपराध है, इसलिये मूल्य स्वीकार करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है।"

महाराज के वोलने के पहले ही वृद्ध मन्त्री ने तीखे स्वर से कहा—"अबोध! क्या वक रही है? राजकीय अनुग्रह का तिरस्कार! तेरी भूमि से चौगुना मूल्य है, फिर कोशल का यह सुनिश्चित राजकीय नियम है। तू आज से राजकीय रक्षण पाने की अधिकारिणी हुई; इस धन से अपने को सुखी वना।"

"राजकीय रक्षण की अधिकारिणी तो सारी प्रजा है मंत्रिवर! ... महाराज को भूमि समर्पण करने में तो मेरा कोई विरोध न था और न है, किन्तु मूल्य स्वीकार करना असम्भव है।" मधूलिका उत्तेजित हो उठी थी।

महाराज के संकेत करने पर मन्त्री ने कहा—"देव! वाराणसी युद्ध के अन्यतम वीर सिंहमित्र की यह एकमात्र कन्या है।" महाराज चौंक उठे—"सिंहमित्र की कन्या! जिसने मगध के सामने कोशल की लाज रख ली थी, उसी वीर की मधूलिका कन्या है!"

"हाँ, देव!"—सविनय मन्त्री ने कहा।

"इस उत्सव के परम्परागत नियम क्या हैं मन्त्रिवर?" महाराज ने पूछा।

"देव, नियम तो बहुत साधारण हैं। किसी भी अच्छी भूमि को इस उत्सव के लिए चुनकर नियमानुसार पुरस्कारस्वरूप उसका मूल्य दे दिया जाता है। वह भी अत्यन्त अनुग्रहपूर्वक अर्थात् भू-सम्पत्ति का चौगुना मूल्य उसे मिलता है। उस खेत को वही व्यक्ति वर्ष भर देखता है। यह राजा का खेत कहा जाता है।"

महाराज को विचार-संघर्ष से विश्राम की अत्यन्त आवश्यकता थी। महाराज चुप रहे। जय-घोष के साथ सभा विसर्जित हुई। सब अपने-अपने शिविरों में चले गये। किन्तु मधूलिका को उत्सव में फिर किसी ने न देखा। वह अपने खेत की सीमा पर विशाल मधूक के वृक्ष के चिकने हरे पत्तों की छाया में अनमनी चुपचाप बैठी रही।

❀ ❀ ❀

रात्रि का उत्सव अब विश्राम ले रहा था। राजकुमार अरुण उसमें सम्मिलित नहीं हुआ। वह अपने विश्राम-भवन में जागरण कर रहा था। आँखों में नींद न थी। प्राची में जैसी गुलाली खिल रही थी, वही रंग उसकी आँखों में था। सामने देखा तो मुंडेर पर कपोती एक पैर पर खड़ी पंख फैलाये अँगड़ाई ले रही थी। अरुण उठ खड़ा हुआ। द्वार पर सुसज्जित अश्व था, वह देखते-देखते नगर तोरण पर जा पहुँचा। रक्षकगण ऊँघ रहे थे। अश्व के पैरों के शब्द से चौंक उठे।

युवक कुमार तीर-सा निकल गया। सिन्धु देश का तुरंग प्रभात के पवन से पुलकित हो रहा था। घूमता-घूमता अरुण उसी मधूक वृक्ष के नीचे पहुँचा, जहाँ मधूलिका अपने हाथ पर सिर धरे हुए खिन्न निद्रा का सुख ले रही थी।

अरुण ने देखा, एक छिन्न माधवी-लता वृक्ष की शाखा से च्युत होकर पड़ी है। सुमन मुकुलित थे, भ्रमर निस्पन्द ! अरुण ने अपने अश्व को मौन रहने का संकेत किया, उस सुषमा को देखने के लिए। परन्तु कोकिल बोल उठी। उसने अरुण से प्रश्न किया—"छिः ! कुमारी के सोये सौन्दर्य पर दृष्टिपात करने वाले धृष्ट, तुम कौन ?" मधूलिका की आँखें खुल पड़ीं। उसने देखा, एक अपरिचित युवक। वह संकोच से उठ बैठी।

"भद्रे ! तुम्हीं न कल के उत्सव की संचालिका रही हो ?"

"उत्सव ! हाँ, उत्सव ही तो था।"

"कल उस सम्मान ‥ ‥।"

"क्यों आपको कल का स्वप्न सता रहा है, भद्र ! आप क्या मुझे इस अवस्था में संतुष्ट न रहने देंगे ?"

"मेरा हृदय तुम्हारी उस छवि का भक्त बन गया है देवि !"

"मेरे उस अभिनय का—मेरी विडम्बना का। आह ! मनुष्य कितना निर्दय है। अपिरिचित, क्षमा करो ! जाओ अपने मार्ग !"

"सरलता की देवि ! मैं मगध का राजकुमार तुम्हारे अनुग्रह का प्रार्थी हूँ—मेरे हृदय की भावना अवगुंठन में रहना नहीं जानती। उसे अपनी ………"

"राजकुमार ! कृषक-बालिका हूँ ! आप नन्दनविहारी और मैं पृथ्वी पर परिश्रम करके जीने वाली। आज मेरी स्नेह की भूमि पर से मेरा अधिकार छीन लिया गया है। मैं दुःख से विकल हूँ। मेरा उपहास न करो !"

"मैं कोशल नरेश से तुम्हारी भूमि तुम्हें दिलवा दूँगा !"

"नहीं, वह कोशल का राष्ट्रीय नियम है। मैं उसे बदलना नहीं चाहती—चाहे उससे मुझे कितना दुःख हो।"

"तब तुम्हारा रहस्य क्या है ?"

"यह रहस्य मानव हृदय का है, मेरा नहीं। राजकुमार, नियम से यदि मानव हृदय बाध्य होता तो आज मगध के राजकुमार का हृदय किसी राजकुमारी की ओर न खिंचकर एक कृषक बालिका का अपमान न करने आता।" मधूलिका उठ खड़ी हुई।

चोट खाकर राजकुमार लौट पड़ा। किशोर-किरणों में उसका रत्न-किरीट चमक उठा। अश्व वेग से चला जा रहा था और मधूलिका निष्ठुर प्रहार करके क्या स्वयं आहत न हुई ? उसके हृदय में टीस-सी होने लगी। वह सजल नेत्रों से उड़ती हुई धूल देखने लगी।

❀ ❀ ❀

मधूलिका ने राजा का प्रतिदान, अनुग्रह नहीं लिया। वह दूसरे खेतों में काम करती और चौथे पहर रूखी-सूखी खाकर पड़ी रहती। मधूक के वृक्ष के नीचे एक छोटी सी पर्णकुटीर थी। सूखे डंठलों से उसकी दीवार बनी थी। मधूलिका का वहीं आश्रम था। कठोर परिश्रम से जो रूखा अन्न मिलता वही उसकी साँसों को बढ़ाने के लिये पर्याप्त था। दुबली होने पर भी उसके अंग पर तपस्या की कान्ति थी। आस-पास के कृषक उसका आदर करते। वह एक आदर्श बालिका थी। दिन, सप्ताह, महीने और वर्ष बीतने लगे।

शीत काल की रजनी, मेघों से भरा आकाश, जिसमें बिजली की दौड़-धूप। मधूलिका का छाजन टपक रहा था, ओढ़ने की कमी थी। वह ठिठुर कर कोने में बैठी थी। मधूलिका अपने अभाव को आज बढ़ाकर सोच रही थी। जीवन से सामञ्जस्य बनाये

रखने वाले उपकरण तो अपनी सीमा निर्धारित रखते हैं। परन्तु उनकी आवश्यकता और कल्पना भावना के साथ वढ़ती-घटती रहती है। आज बहुत, वहुत दिनों पर उसे बीती हुई बात स्मरण हुई—'दो, नहीं, नहीं तीन वर्ष हुए होंगे, इसी मधूक के नीचे, प्रभात में—तरुण राजकुमार ने क्या कहा था?'

वह अपने हृदय से पूछने लगी—उन चाटुकी के शब्दों के सुनने के लिये उत्सुक-सी वह पूछने लगी—'क्या कहा था?' दुखदग्ध हृदय उन स्वप्न-सी बातों का स्मरण रख सकता और स्मरण ही होता तो भी कष्टों की इस काली निशा में वह कहने का साहस करता? हाय री विडम्वना!

आज मधूलिका उस बीते हुए क्षण को लौटा लेने के लिये विकल थी। असहाय दारिद्रय की ठोकरों ने उसे व्यथित और अधीर कर दिया है। मगध की प्रासाद-माला के वैभव का काल्पनिक चित्र—उन सूखे डंठलों के रन्ध्रों से नीचे नभ में—बिजली के आलोक में—नाचता हुआ दिखाई देने लगा। खिलवाड़ी शिशु जैसे श्रावण की सन्ध्या में जुगनू को पकड़ने के लिये हाथ लपकाता है वैसे ही मधूलिका 'अभी वह, वह, निकल गया।' मन ही मन कह रही थी। वर्षा ने भीषण रूप धारण किया। गड़गड़ाहट वढ़ने लगी। ओले पड़ने की सम्भावना थी। मधूलिका अपनी जर्जर झोपड़ी के लिये काँप उठी। सहसा बाहर कुछ शब्द हुआ।

"कौन है यहाँ? पथिक को आश्रय चाहिये।"

मधूलिका ने डंठलों का कपाट खोल दिया। विजली चमक उठी। उसने देखा, एक पुरुष घोड़े की डोर पकड़े खड़ा है। सहसा वह चिल्ला उठी—"राजकुमार!"

"मधूलिका!" आश्चर्य से युवक ने कहा।

एक क्षण के लिये सन्नाटा छा गया। मधूलिका अपनी कल्पना को सहसा प्रत्यक्ष देखकर चकित हो गई—"इतने दिनों बाद आज फिर ?"

अरुण ने कहा—"कितना समझाया मैंने—परन्तु……"

मधूलिका अपनी दयनीय अवस्था पर संकेत करने देना नहीं चाहती थी। उसने कहा—"और आज आपकी यह क्या दशा है ?"

सिर झुकाकर अरुण ने कहा—"मैं मगध का विद्रोही निर्वासित कोशल में जीविका खोजने आया हूँ।"

मधूलिका उस अन्धकार में हँस पड़ी—"मगध के विद्रोही राजकुमार का स्वागत करे एक अनाथिनी कृषक बालिका ! यह भी एक विडम्बना है ! जो भी हो, मैं स्वागत के लिये प्रस्तुत हूँ।"

❀ ❀ ❀

शीतकाल की निस्तब्ध रजनी, कुहरे से धुली चाँदनी, हाड़ कँपा देने वाला समीर, तो भी अरुण और मधूलिका दोनों पहाड़ी गह्वर के द्वार पर वट वृक्ष के नीचे बैठे हुए बातें कर रहे हैं। मधूलिका की वाणी में उत्साह था; किन्तु अरुण जैसे अत्यन्त सावधान होकर बोलता है !

मधूलिका ने पूछा—"जब तुम विपन्न अवस्था में हो तो फिर इतने सैनिकों को साथ रखने की क्या आवश्यकता है ?"

"मधूलिका ! बाहुबल ही तो वीरों की आजीविका है। ये मेरे जीवन-मरण के साथी हैं। भला मैं इन्हें कैसे छोड़ देता और करता ही क्या ?"

"क्यों ? हम लोग परिश्रम से कमाते और खाते। अब तो तुम……।"

"भूल न करो, मैं अपने बाहुबल पर भरोसा करता हूँ। नये राज्य की स्थापना कर सकता हूँ। निराश क्यों हो जाऊँ ?" अरुण के शब्दों में कल्पना थी, वह जैसे कुछ कहना चाहता था, पर कह न सकता था।

"नवीन राज्य! ओहो, तुम्हारा उत्साह तो कम नहीं। भला कैसे ? कोई ढङ्ग बताओ तो मैं भी कल्पना का आनन्द ले लूँ।"

"कल्पना का आनन्द नहीं मधूलिके, मैं तुम्हें राजरानी के सम्मान से सिंहासन पर बिठाऊँगा। तुम अपने छिने हुये खेत की चिन्ता करके भयभीत न हो।"

एक क्षण में सरला मधूलिका के मन में प्रमाद का अन्धड़ बहने लगा—द्वन्द्व मच गया। उसने सहसा कहा—"आह मैं सचमुच आज तक तुम्हारी प्रतीक्षा करती थी, राजकुमार !"

अरुण ढिठाई से उसके हाथों को दबा कर बोला—"तो मेरा भ्रम ठीक था, तुम सचमुच मुझे प्यार करती हो ?"

युवती का वक्षस्थल फूल उठा। वह 'हाँ' भी न कर सकी, 'ना' भी नहीं। अरुण ने उसकी अवस्था का अनुभव कर लिया। कुशल मनुष्य के समान उसने अवसर को हाथ से न जाने दिया। तुरन्त बोल उठा—"तुम्हारी इच्छा हो तो प्राणों से प्राण लगाकर मैं तुम्हें इसी कोशल के सिंहासन पर बिठा दूँ। मधूलिका, अरुण के खड्ग का आतंक देखोगी ?" मधूलिका एक बार काँप उठी वह कहना चाहती थी नहीं—किन्तु उसके मुँह से निकला—"क्या ?"

"सत्य, मधूलिका, कोशल-नरेश तभी से तुम्हारे लिये चिंतित हैं। यह मैं जानता हूँ; तुम्हारी साधारण-सी प्रार्थना वह अस्वीकार न करेंगे और मुझे यह भी विदित है कि कोशल के सेनापति अधिकांश सैनिकों के साथ पहाड़ी दस्युओं का दमन करने के लिये बहुत दूर चले गये हैं।"

मधूलिका की आँखों के आगे बिजलियाँ हँसने लगीं। दारुण-भावना से उसका मस्तक विकृत हो उठा। अरुण ने कहा—"तुम बोलती नहीं हो।"

"जो कहोगे वही करूँगी"—मन्त्रमुग्ध-सी मधूलिका ने कहा।

❀ ❀ ❀

स्वर्णमंच पर कोशल-नरेश अर्धलेटी अर्द्धनिद्रित अवस्था में आँख मुकुलित किये हैं। एक चामरधारिणी युवती पीछे खड़ी अपनी कलाई बड़ी कुशलता से घुमा रही है। चामर के शुभ्र आन्दोलन उस प्रकोष्ठ में धीरे-धीरे संचालित हो रहे हैं। ताम्बूल-वाहिनी प्रतिमा के समान दूर खड़ी है।

प्रतिहारी ने आकर कहा—"जय हो देव! एक स्त्री कुछ प्रार्थना करने आई है।"

आँख खोलते हुये महाराज ने कहा—"स्त्री प्रार्थना करने आई है! आने दो।"

प्रतिहारी के साथ मधूलिका आई। उसने प्रणाम किया।

महाराज ने स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखा और कहा—"तुम्हें कहीं देखा है।"

"तीन बरस हुये देव! मेरी भूमि खेती के लिये ली गई थी।"

"ओह, तो तुमने इतने दिन कष्ट में बिताये! आज उसका मूल्य माँगने आई हो, क्यों? अच्छा, अच्छा, तुम्हें मिलेगा। प्रतिहारी!"

"नहीं महाराज, मुझे मूल्य नहीं चाहिये।"

"मूर्ख! फिर क्या चाहिये?"

"उतनी ही भूमि दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की जङ्गली भूमि। वहीं मैं अपनी खेती करूँगी। मुझे एक सहायक मिल गया

है। वह मनुष्यों से मेरी सहायता करेगा; भूमि को समतल भी तो बनाना होगा।"

महाराज ने कहा—"कृषक बालिके! वह बड़ी ऊबड़-खाबड़ भूमि है। तिस पर वह दुर्ग के समीप एक सैनिक महत्व रखती है।"

"तो फिर निराश लौट जाऊँ।"

"सिंहमित्र की कन्या! मैं क्या करूँ? तुम्हारी यह प्रार्थना………!"

"देव! जैसी आज्ञा हो।"

"जाओ, तुम श्रमजीवियों को उसमें लगाओ। मैं अमात्य को आज्ञा-पत्र देने का आदेश करता हूँ।"

"जय हो देव!" कहकर प्रणाम करती हुई मधूलिका राज-मन्दिर के बाहर आई।

❀ ❀ ❀

दुर्ग के दक्षिण, भयावने नाले के तट पर, घना जङ्गल है। आज वहाँ मनुष्य के पद-संचार से शून्यता भंग हो रही थी। अरुण के छिपे हुये मनुष्य स्वतन्त्रता से इधर-उधर घूमते थे। झाड़ियों को काटकर पथ बन रहा था। नगर दूर था; फिर उधर यों ही कोई नहीं आता था। फिर अब तो महाराज की आज्ञा से वहाँ मधूलिका का अच्छा खेत बन रहा था। किसको इसकी चिन्ता थी?

एक घने कुञ्ज में अरुण और मधूलिका एक दूसरे को हर्षित नेत्रों से देख रहे थे। संध्या हो चली थी। उस निविड़ वन में उन नवागत मनुष्यों को देखकर पक्षीगण अपने नीड़ को लौटते हुए अधिक कोलाहल कर रहे थे।

प्रसन्नता से अरुण की आँखें चमक उठीं। सूर्य की अन्तिम किरणें झुरमुट से घुसकर मधूलिका के कपोलों से खेलने लगीं। अरुण ने कहा—"चार पहर और विश्वास करो और प्रभात में ही इस जीर्ण कलेवर कोशल-राष्ट्र की राजधानी श्रावस्ती में तुम्हारा अभिषेक होगा, और मगध से निर्वासित मैं एक स्वतंत्र राष्ट्र का अधिपति बनूंगा, मधूलिके !"

"भयानक ! अरुण, तुम्हारा साहस देखकर मैं चकित हो रही हूँ। केवल सौ सैनिकों से तुम ....."

"रात के तीसरे पहर मेरी विजय-यात्रा होगी, मधूलिके !"

"तो तुमको इस विजय पर विश्वास है ?"

"अवश्य, तुम अपनी झोपड़ी में यह रात विताओ; प्रभात से तो राज-मन्दिर ही तुम्हारा लीला-निकेतन बनेगा।"

मधूलिका प्रसन्न थी, किन्तु अरुण के लिये उसकी कल्याण-कामना सशंक थी। वह कभी-कभी उद्विग्न-सी होकर बालकों के समान प्रश्न कर बैठती, अरुण उसका समाधान कर देता। सहसा कोई संकेत पाकर उसने कहा—'अच्छा, अन्धकार अधिक हो गया। अभी तुम्हें दूर जाना है और मुझे भी प्राणपण से इस अभियान के प्रारम्भिक कार्यों को अर्ध-रात्रि तक पूरा कर लेना चाहिये। इसलिये रात भर के लिये विदा !"

मधूलिका उठ खड़ी हुई। कटीली झाड़ियों में उलझती हुई, क्रम से बढ़ने वाले अन्धकार में, वह अपनी झोपड़ी की ओर चली।

❀ ❀ ❀

पथ अन्धकार-मय था और मधूलिका का हृदय भी निविड़ तम से घिरा था। उसका मन सहसा विचलित हो उठा; मधुरता नष्ट हो गई। जितनी सुख-कल्पना थी, वह जैसे अन्धकार

में विलीन होने लगी। वह भयभीत थी। पहला भय उसे अरुण के लिये उत्पन्न हुआ, यदि यह सफल न हुआ तो? फिर सहसा सोचने लगी वह क्यों सफल हो? श्रावस्ती दुर्ग एक विदेशी के अधिकार में क्यों चला जाय? मगध कोशल का चिर शत्रु। ओह, उसकी विजय! कोशल नरेश ने क्या कहा था—'सिंहमित्र की कन्या।' सिंहमित्र कोशल का रक्षक वीर, उसकी कन्या आज क्या करने जा रही है? नहीं, नहीं, 'मधूलिका! मधूलिका!' जैसे उसके पिता उस अन्धकार में पुकार रहे थे। वह पगली की तरह चिल्ला उठी। रास्ता भूल गई।

रात एक पहर बीत चली, पर मधूलिका अपनी झोपड़ी तक न पहुँची वह उधेड़-बुन में विक्षिप्त-सी चली जा रही थी। उसकी आँखों के सामने कभी सिंहमित्र और कभी अरुण की मूर्ति अन्धकार में चित्रित हो जाती। उसे सामने आलोक दिखाई पड़ा, वह बीच पथ में खड़ी हो गई। प्रायः एक सौ उल्काधारी अश्वारोही चले आ रहे थे और आगे-आगे एक वीर अधेड़ सैनिक था। उसके बायें हाथ में अश्व की वल्गा और दाहिने हाथ में नग्न खड्ग। अत्यन्त धीरता से वह टुकड़ी अपने पथ पर चल रही थी परन्तु मधूलिका बीच पथ से हिली नहीं। प्रमुख सैनिक पास आ गया; पर मधूलिका अब भी नहीं हटी। सैनिक ने अश्व रोककर कहा—"कौन?" कोई उत्तर नहीं मिला। तब तक दूसरे अश्वारोही ने कड़क कर कहा—"तू कौन है स्त्री? कोशल के सेनापति को शीघ्र उत्तर दे।

रमणी जैसे विकार ग्रस्त स्वर में चिल्ला उठी—"बाँध लो, मुझे बाँध लो! मेरी हत्या करो। मैंने अपराध ही ऐसा किया है।"

सेनापति हँस पड़े। बोले—"पगली है।"

"पगली! नहीं, यदि वही होती तो इतनी विचार-वेदना क्यों होती? सेनापति! मुझे बाँध लो, राजा के पास ले चलो।"

"क्या है? स्पष्ट कह!"

"श्रावस्ती का दुर्ग एक प्रहर में दस्युओं के हस्तगत हो जायगा। दक्षिण नाले के पार उनका आक्रमण होगा।"

सेनापति चौंक उठे। उन्होंने आश्चर्य से पूछा—"तू क्या कह रही है?"

"मैं सत्य कह रही हूँ, शीघ्रता करो।"

सेनापति ने अस्सी सैनिकों को नाले की ओर धीरे-धीरे बढ़ने की आज्ञा दी और स्वयं बीस अश्वारोहियों के साथ दुर्ग की ओर बढ़े। मधूलिका एक अश्वारोही के साथ बाँध दी गई।

+ + +

श्रावस्ती का दुर्ग, कोशल राष्ट्र का केन्द्र, इस रात्रि में अपने विगत वैभव का स्वप्न देख रहा था। भिन्न राजवंशों ने उसके प्रान्तों पर अधिकार जमा लिया है। अब वह कई गाँवों का अधिपति है। फिर भी उसके साथ कोशल के अतीत की स्वर्ण-गाथायें लिपटी हैं। वह लोगों की ईर्ष्या का कारण है। दुर्ग के प्रहरी चौंक उठे, जब थोड़े से अश्वारोही बड़े वेग से आते हुए दुर्गद्वार पर रुके। जब उल्का के आलोक में उन्होंने सेनापति को पहचाना तब द्वार खुला। सेनापति घोड़े की पीठ से उतरे। उन्होंने कहा—"अग्निसेन! दुर्ग में कितने सैनिक होंगे?"

"सेनापति की जय हो, दो सौ।"

"उन्हें शीघ्र एकत्र करो; परन्तु बिना किसी शब्द के १०० को लेकर तुम शीघ्र ही चुपचाप दुर्ग के दक्षिण की ओर चलो। आलोक में और शब्द न हो।"

सेनापति ने मधूलिका की ओर देखा। वह खोल दी गई। उसे अपने पीछे आने का संकेत कर सेनापति राज-मन्दिर की ओर बढ़े। प्रतिहारी ने सेनापति को देखते ही महाराज को सावधान किया। वह अपनी सुख-निद्रा के लिये प्रस्तुत हो रहे थे। किन्तु सेनापति और साथ में मधूलिका को देखते ही चंचल हो उठे। सेनापति ने कहा—"जय हो देव! इस स्त्री के कारण मुझे इस समय उपस्थित होना पड़ा है।"

महाराज ने स्थिर नेत्रों से देखकर कहा—"सिंहमित्र की कन्या, फिर यहाँ क्यों? क्या तुम्हारा क्षेत्र नहीं बन रहा है? कोई बाधा? सेनापति! मैंने दुर्ग के दक्षिण नाले के समीप की भूमि इसे दी है। क्या उसी संबंध में तुम कहना चाहते हो?"

"देव! किसी गुप्त-शत्रु ने उसी ओर से आज रात में दुर्ग पर अधिकार कर लेने का प्रवन्ध किया है। और इसी स्त्री ने मुझे पथ में यह संदेशा दिया है।"

राजा ने मधूलिका की ओर देखा। वह काँप उठी। घृणा और लज्जा से वह गड़ी जा रही थी। राजा ने पूछा—"मधूलिका, यह सत्य है?"

"हाँ, देव!"

राजा ने सेनापति से कहा—"सैनिकों को एकत्र करके तुम चलो, मैं अभी आता हूँ।" सेनापति के चले जाने पर राजा ने कहा—"सिंहमित्र की कन्या! तुमने एक वार फिर कोशल का उपकार किया। यह सूचना देकर तुमने पुरस्कार का काम किया है। अच्छा, तुम यहीं ठहरो। पहले उन आततायियों का प्रवन्ध कर लूँ।"

\+ \+ \+

अपने साहसिक अभियान में अरुण वन्दी हुआ और दुर्ग उल्का के आलोक में अतिरंजित हो गया। भीड़ ने जयघोष किया। सब के मन में उल्लास था। श्रावस्ती-दुर्ग आज एक दस्यु के हाथ में जाने से बचा। आबाल-वृद्ध नर-नारी आनन्द से उन्मत्त हो उठे।

उषा के आलोक में सभा-मंडप दर्शकों से भर गया। वन्दी अरुण को देखते ही जनता ने रोष से हुँकार की—"वध करो!" राजा ने सब से सहमत होकर कहा—"प्राणदण्ड!" मधूलिका बुलाई गई। वह पगली स्त्री आकर खड़ी हो गई। कोशल-नरेश ने पूछा—"मधूलिका, तुझे जो पुरस्कार लेना हो, माँग।" वह चुप रही।

राजा ने कहा—"मेरी निज की जितनी खेती है मैं सब तुझे देता हूँ।" मधूलिका ने एक बार वन्दी अरुण की ओर देखा। उसने कहा—"मुझे कुछ न चाहिये।" अरुण हँस पड़ा! राजा ने कहा—"नहीं, मैं तुझे अवश्य दूगा माँग ले।"

"तो मुझे भी प्राणदण्ड मिले।" कहती हुई वह वन्दी अरुण के पास जा खड़ी हुई।

अभ्यास के लिए

१—इस कहानी का सारांश लिखिए।
२—'मधूलिका' और 'अरुण' का चरित्र-चित्रण कीजिये।
३—इस कहानी की विशेषतायें बतलाइए।
४—इस कहानी से हमें क्या शिक्षा मिलती है?
५—जयशंकर प्रसाद की भाषा-शैली पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।

१८—बदरीनाथ की यात्रा

[लेखिका—श्रीमती महादेवी वर्मा]

महादेवी वर्मा हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कवियित्री हैं। इनका जन्म संवत् १९६४ में फरुर्खाबाद में हुआ। आपके पिता बाबू गोविन्द प्रसाद वर्मा इन्दौर में प्रोफेसर थे। आपने 'क्रास्थवेट गर्ल्स कालेज' में शिक्षा प्राप्त की और प्रयाग विश्वविद्यालय से ससम्मान एम० ए० पास किया। आज कल आप 'प्रयाग महिला विद्यापीठ कालेज' की प्रिंसिपल हैं। अब तक आपके चार कविता संग्रह—'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', तथा 'सांध्यगीत प्रकाशित हो चुके हैं। 'यामा' और 'दीपशिखा' नामक आपके दो संकलन बड़ी सजधज से निकले हैं। 'नीरजा' पर 'सेक्सरिया पुरस्कार' भी आप प्राप्त कर चुकी हैं और इधर हिन्दी साहित्य सम्मेलन का 'मंगला प्रसाद पारितोषिक' प्राप्त कर आप हिन्दी की श्रेष्ठ कलाकार भी घोषित की गई हैं।

कई वर्ष आपने चाँद का सम्पादन भी किया था। पद्य के साथ आप प्रवाहपूर्ण गद्य भी लिखती हैं। 'अतीत के चल-चित्र' और 'शृङ्खला की कड़ियाँ' इनकी बहुत सुन्दर गद्य रचनाएँ हैं। काश्मीर—बदरीनाथ —प्रभृति यात्राओं का वर्णन भी आपने अनोखे एवं रोचक ढंग से किया है। आपके गद्य में संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य है। आपकी भावाभिव्यंजन की शैली आलंकारिका है। आपके व्यंग्य में करुणा और शिष्ट हास हुआ करता है। आपकी शैली पर व्यक्तित्व की अनोखी छाप है।

किसी वस्तु को प्राप्त कर लेने की इच्छा में जो मधुरता है वह उस इच्छा की पूर्ति में नहीं, इसका अनुभव मुझे बदरीनाथ के धूप में पारे के समान झिलमिलाते हुए हिमालय शिखरों के निकट पहुँच कर हुआ।

हनुमान चट्टी से पाँच-छः मील की जो दुर्गम और विकट चढ़ाई आरम्भ हुई थी; उसका अन्त एक ओर नर और दूसरी ओर नारायण नाम के पर्वतों तथा उनकी असंख्य श्रेणियों से घिरी हुई समतल भूमि में हुआ। श्वेत कमल की पंखुरियों के समान लगने वाले पर्वतों के बीच में, निरंतर कलकल-नादिनी अलकनन्दा के तीर पर बसी हुई वह पुरी हिमालय के हृदय में छिपी हुई इच्छा के समान जान पड़ी। वृक्ष, फूल और पत्तों का कहीं चिन्ह भी नहीं था। जहां तक दृष्टि जाती थी निस्पंद समाधि में मग्न तपस्विनी जैसी आडंबरहीन सूनी पृथ्वी ही दिखाई देती थी और उतने ही निश्चल तथा उज्ज्वल हिमालय के शिखर ऐसे लगते थे मानों किसी शरद् पूर्णिमा की रात्रि में पहरा देते-देते चांदनी समेत जमकर जड़ हो गये हों!

वदरीनाथ से एक मील बाहर वहाँ के वयोवृद्ध रईस नारायण दत्त जी नें फूलों से सजा हुआ एक सुन्दर बँगला बनवा रक्खा है जिसमें कभी-कभी कोई संभ्रांत व्यक्ति ठहर जाता है, परन्तु प्रायः उसकी दीवारों को पथिकों का दर्शन दुर्लभ रहता है। पक्के तीर्थ-यात्री तो पंडे के संकीर्ण घर में भेड़-बकरियों की तरह भरे रहनें में ही पुण्य की प्राप्ति समझते हैं।

नारायण दत्त जी ऐसे विदेह गृहस्थ हैं, जो अपनी साधना का फल औरों को समर्पण कर देने में ही सिद्धि समझते हैं—वदरीनाथ ऐसे स्थान में उन्होंने बाग लगाया है, फलों के पेड़ लगाये हैं, आलू की खेती आरम्भ की है और न जाने कितने उपयोगी कार्य किये हैं—इतनी वृद्धावस्था में भी दिन-दिन भर धूप में उन्हें काम करते और कराते देखकर हमें बड़ा विस्मय हुआ।

फूलों के निकट रहने की इच्छा से, एकान्त के आकर्षण से, और अपनें स्वभाव के कारण मैंने वहीं ठहरनें का निश्चय

किया परन्तु हमारे सहयात्रियों में जो एक-दो सच्चे तीर्थ-यात्री थे वे उसी समय अपने पंडे का आतिथ्य स्वीकार करने चले गये। पंडा जी हमें भी बुलाने आये और उनकी नम्रता, उनका शील देखकर मेरा पंडों के प्रति उपेक्षाभाव तो दूर हो गया, परन्तु वह स्थान इतना रमणीक था कि उसे छोड़ने की कल्पना भी अच्छी नहीं लगी।

वहीं रुपये सेर दूध, रुपये सेर आटा और एक आने की एक छोटी लकड़ी के हिसाब से लकड़ियाँ मँगाकर भोजन की व्यवस्था की गई कदाचित् इस मँहगेपन के कारण ही बदरीनाथ में यात्रियों के स्वयं भोजन न बनाकर पंडे के यहाँ या बाजार में भोजन का प्रबन्ध करने की प्रथा है। इस प्रथा का अनुसरण करने के कारण पुरी में ठहरने वाले हमारे साथी इतने अस्वस्थ हो गये कि दूसरे ही दिन उन्हें उसे छोड़ देना पड़ा।

उस दिन तीसरे पहर तक उन रुपहले शिखरों को मन भर कर देखने के उपरान्त अलकनन्दा का छोटा सा पुल पार करके हम सब पुरी देखने निकले, परन्तु देखकर केवल निराशा हुई। संकीर्ण गलियाँ और घर दुर्गन्धिपूर्ण और गन्दे थे। देखकर सोचा कि जब हम अपने इतने बड़े तीर्थ-स्थान को भी स्वच्छ और सुन्दर नहीं रख सकते तब किसी और स्थान को स्वच्छ रखने की आशा तो दुराशामात्र है। उत्तुङ्ग स्वर्ग के चरणों से ही नरक की अतल गहराई बँधी है, उसका प्रमाण ऐसे स्थान में मिल सकता है, जहाँ पाप-पुण्य, पवित्रता-मलिनता और करुणा-क्रूरता के एक दूसरे में जीने वाले द्वन्द्व प्रत्यक्ष आ जाते हैं।

असंख्य गणमान्य और नगण्य, धनी और दरिद्र, शक्ति-सम्पन्न और दुर्बल, सपरिजन और एकाकी यात्री वहाँ प्रतिवर्ष जाते-आते हैं। धनिकों के सारे अभाव धन दूर कर देता है,

परन्तु दरिद्रों के लिये न रहनें का अच्छा प्रबन्ध है, न भोजन का। फलतः अधिकांश यात्री रोगी होकर लौटते हैं और कुछ मार्ग में ही परमधाम का मार्ग ले लेते हैं।

उस दिन हम लोग दो मील दूर उस मन्दिर को देखने गये, जो द्रौपदी के गलने के स्थान पर उसकी स्मृति में बनाया गया है। वहाँ से थोड़ी ही दूर पर दो पर्वतों के बीच से निकलती हुई वसुन्धरा की पतली धार दिखाई दी, जो दूर से, बादलों से छनकर आती हुई किरणों की तरह जान पड़ती थी। उसी के पास व्यास-गुफा नाम की गुफा और तिव्वत जानें का मार्ग है, और वहीं तिव्वती लोगों के एक ग्राम का भग्नावशेष है, जिसमें अब भी कुछ लोग आते-जाते दृष्टिगोचर हो जाते हैं।

बदरीनाथ पुरी में देखने योग्य वस्तुओं में मन्दिर और अलकनन्दा के बीच में एक बहुत उष्ण जल का और एक ठंडे जल का स्रोत है। वहीं एक कुण्ड बना दिया गया है, जिसमें दोनों स्रोतों का जल मिलाकर यात्रियों को स्नान कराया जाता है—सम्भव है, यही तप्तकुण्ड इस स्थान की प्रसिद्धि का कारण हो।

मन्दिर अपनी प्रसिद्धि के अनुरूप नहीं है और भीतर द्वारों पर कटघरे से लगाकर मानों भगवान् को भी बन्धन में डाल दिया है। द्वारपाल उन्हीं को सरलता से प्रवेश करने देते हैं जो संभ्रान्त व्यक्ति जान पड़ते हैं और मलिन वेश वाले दरिद्र घंटों सतृष्ण दृष्टि से उन जाने-आने वालों को देखते रहते हैं। भीतर जाकर लाल पगड़ी वाले सिपाहियों को अन्तःद्वार की रक्षा करते देखकर हमारे विस्मय की सीमा नहीं रही। वे भी वस्त्रों को आदर की दृष्टि से देखते थे और दीन स्त्री-पुरुषों को हाथ पकड़-पकड़ कर रोक देते थे। उस द्वार को भी पार कर नर नारायण की मूक प्रतिमा देखी, जिस पर न हर्ष था, न

विषाद, न कभी कुछ होने की आशा ही थी, केवल उसके पुजारी की आँखें हर्ष में नाच रही थीं। वे दोनों हाथों से चाँदी की राशि बटोर रहे थे। भगवान के लिये नहीं परन्तु उनके पुजारी की प्रसन्नता के लिये मैंने भी रजत-खण्ड चढ़ा कर विषण्ण मुख से विदा ली।

दूसरे दिन हमने निकटवर्ती चाँदी के पहाड़ पर चढ़ना आरम्भ किया, जिससें बड़ा आनन्द आया। कहीं-कहीं वर्फ जमकर ऐसी हो गई थी कि संगमरमर का भ्रम हो जाता था। न वह गलता था और न कुछ विशेष ठंडा लगता था; उससे ठंडा तो अलकनन्दा का जल था, जिसमें हाथ डालते ही उँगलियाँ ऐंठ जाती थीं। हवा में भी कुछ विशेष सर्दी नहीं मालूम हुई; मुझे तो गर्म कपड़े भी न पहननें पड़े। जहाँ वर्फ पिघल रही थी, वहाँ से खोद कर कुछ वर्फ खाई और गोले बना कर लाये।

तीसरे दिन प्रस्थान के समय फिर मन्दिर में जाकर फूलों की माला न मिलने के कारण जङ्गली तुलसी के पत्तों को माला चढ़ा कर विदा हुए। पंडा जी सुफल बोलने के लिये उत्सुक थे, परन्तु मुझसे यह सुनकर कि मेरी यात्रा की सफलता मेरे मन पर निर्भर है, मौन हो रहे। उन्होंने मुझे प्रसाद दिया और मैंने उनके आतिथ्य के बदले में कुछ उन्हें अर्पण किया केवल उनसे स्वर्ग के लिये प्रवेश-पत्र लेना मुझे स्वीकार न था। बँगले में लौटकर कैमरे का कुछ दुरुपयोग सदुपयोग किया। फिर नारायण दत्त जी से मिलकर उनके आतिथ्य के बदले में कुछ भेंट देनी चाही परन्तु उन्हें तो भगवान् के मन्दिर में रहने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था जो लक्ष्मी की चरण-सेवा करना जानते! वे हमारी श्रद्धांजलि से सन्तुष्ट हो गये।

बदरीनाथ हमारा ऐतिहासिक तीर्थ स्थान है, परन्तु असंख्य यात्रियों में से दो-चार ने भी कभी इसकी दुरवस्था के

कारण पर विचार किया होगा, ऐसा विश्वास नहीं होता। ग्राम गन्दा है, मन्दिर टूटा जा रहा है। तप्तकुण्ड की ओर अलकनन्दा की धारा बढ़ती जा रही है। सम्भव है, किसी दिन वह भी न रहे, ऐसी दशा में समर्थ यात्रियों के कर्त्तव्य की इतिश्री क्या इसी में है कि वे अपनी यात्रा का सफलता-पत्र लेकर आया करें।

यात्रीगण और विशेष कर रावल जी ध्यान दें तो वह अलकनन्दा के तीर पर बसी हुई पुरी अलकापुरी के समान ही सुन्दर हो सकती है।

अभ्यास के लिये

१—बदरीनाथ के आस-पास के दर्शनीय स्थानों के नाम बतलाइए और उनका संक्षेप में वर्णन कीजिए।

२—तप्तकुण्ड और अलकनन्दा क्या हैं? इसका विवरण लिखिये।

३—श्री महादेवी वर्मा का परिचय लिखिये तथा उनकी भाषा-शैली पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

१९—लोकनायक तुलसीदास

[लेखक—पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी]

पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी का जन्म स्थान बलिया जिले का एक ग्राम है। आपने सर्वप्रथम संस्कृत विशेषतः ज्योतिष-शास्त्र का अध्ययन आरम्भ किया; तत्पश्चात् आपने बंगला तथा अंग्रेजी में भी प्रवेश करके सफल कलाकार होने का परिचय दिया है। कुछ दिनों तक आप काशी विश्वविद्यालय में भी रहे। तत्पश्चात् आप विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'शान्ति-निकेतन' बोलपुर में अध्यापन कार्य करते रहे। अब आप पुनः काशी विश्वविद्यालय में लौट आये हैं।

द्विवेदी जी हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, बंगला प्रभृति भाषाओं के विद्वान

हैं एवं भक्ति-कालीन साहित्य के मर्मज्ञ हैं। आपने तुलसी, सूर, कबीर, विद्यापति, चंडीदास प्रभृति हिन्दी तथा बंगला भक्त कवियों का गवेषणा-पूर्ण अध्ययन किया है। हिन्दी समालोचकों में आपका स्थान अत्यन्त गौरव का है। आपकी आलोचनाएँ मौलिक, ठोस और व्यक्तित्व की छाप रखने वाली हैं।

आपने सूर साहित्य, हिन्दी साहित्य की भूमिका, सन्त कबीर, बाण की आत्मकथा—प्रभृति उच्चकोटि के साहित्यिक ग्रन्थों की रचना की है। आप के खोजपूर्ण लेख 'विशाल भारत' तथा अन्य मासिक पत्रों में प्रकाशित होते रहते हैं। आपकी भाषा शुद्ध हिन्दी होती है जिसमें प्राञ्जलता, भाव-प्रवणता, सुबोधता आदि मुख्य गुण हैं। आपने प्रायः संस्कृत के तत्सम किन्तु प्रचलित शब्दों का ही प्रयोग किया है। आपकी भाषा पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की काव्यमयी शैली का भी प्रभाव यत्र-तत्र परिलक्षित होता है। बंगला के प्रभाव से आपकी शैली में कोमल कान्त-पदावली का भी समावेश हो गया है।

प्रस्तुत लेख आपकी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' से उद्धृत किया गया है।

डाक्टर ग्रियर्सन ने कहा है कि बुद्धदेव के बाद भारत में सबसे बड़े लोकनायक तुलसीदास थे। ये असाधारण प्रतिभा लेकर उत्पन्न हुये थे। जिस युग में इनका जन्म हुआ था उस युग के समाज के सामने कोई ऊँचा आदर्श नहीं था। समाज के उच्च स्तर के लोग विलासिता के पंक में उसी तरह मग्न थे जिस प्रकार उन्हें कुछ वर्ष सूरदास ने देखा था। निचले स्तर के पुरुष और स्त्री दरिद्र, अशिक्षित और रोग ग्रस्त थे। बैरागी हो जाना मामूली बात थी। जिसके घर की सम्पत्ति नष्ट हो गई या स्त्री मर गई, संसार में कोई आकर्षण नहीं रहा वह चट संन्यासी हो गया। सारा देश नाना सम्प्रदाय के साधुओं से भर गया था। 'अलख' की आवाज गर्म थी, हालाँकि ये 'अलख

के लखने वाले' कुछ भी नहीं लख सकते थे। नीच समझी जाने वाली जातियों में कई पहुँचे हुये महात्मा हो गये थे, उनमें आत्म-विश्वास का संचार हो गया था जैसा कि साधारणत: हुआ करता है और शिक्षा और संस्कृति के अभाव में यही आत्म विश्वास दुर्वह गर्व का रूप धारण कर गया था। आध्यात्मिक साधना से दूर पड़े हुये ये गर्वमूढ़ पंडितों और ब्राह्मणों की बराबरी का दावा कर रहे थे। परंपरा से सुविधा-भोग करने की आदी ऊँची जातियाँ इससे चिढ़ा करती थीं। समाज में धन की मर्यादा बढ़ रही थी। दरिद्रता हीनता का लक्षण समझी जाती थी। पण्डितों और ज्ञानियों का समाज के साथ कोई भी सम्पर्क नहीं था। सारा देश विश्रृङ्खल, परस्पर विच्छिन्न, आदर्शहीन और विना लक्ष्य का हो रहा था। एक ऐसे आदमी की आवश्यकता थी जो इन परस्पर विच्छिन्न और दूर विभ्रष्ट टुकड़ों में योग-सूत्र स्थापित करे। तुलसीदास का आविर्भाव ऐसे समय में ही हुआ।

भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है, जो समन्वय कर सके, क्योंकि भारतीय समाज में नाना भाँति की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचार-निष्ठा और विचार पद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे, गीता में समन्वय की चेष्टा है और तुलसीदास भो समन्वयकारी थे। वे स्वयं नाना प्रकार के सामाजिक स्तरों में रह चुके थे। ब्राह्मण-वंश में उनका जन्म था, दरिद्र होने के कारण उन्हें दर-दर भटकना पड़ा था, गृहस्थ-जीवन की सबसे निकृष्ट आशक्ति के वे शिकार हो चुके थे, अशिक्षित और संस्कृति-विहीन जनता में वह रह चुके थे; और काशी के दिग्गज पंडितों तथा संन्यासियों के संसर्ग में खूब आना पड़ा था। नाना पुराण-निगमागम का अभ्यास उन्होंने किया था और लोकप्रिय साहित्य और साधना

की नाड़ी उन्होंने पहचानी थी। पंडितों ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि उस युग में प्रचलित ऐसी कोई काव्य-पद्धति नहीं थी जिस पर उन्होंने अपनी छाप न लगा दी हो। चन्द के छप्पय, कबीर के दोहे, सूरदास के पद, जायसी की दोहा-चौपाइयाँ, रीतिकारों के सवैया-कवित्त, रहीम के बरवै, गाँव वालों के सोहर आदि जितनी प्रकार की छन्द-पद्धति उन दिनों लोक में प्रसिद्ध थीं, सब को उन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा के बल पर अपने रंग में रंग दिया।

लोक और शास्त्र के इस व्यापक ज्ञान ने उन्हें अभूतपूर्व सफलता दी। उनका सारा काव्य समन्वय की विराट् चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा और संस्कृति का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, कथा और तत्वज्ञान का समन्वय, ब्राह्मण और चाण्डाल का समन्वय, पांडित्य और अपांडित्य का समन्वय—'रामचरितमानस' शुरू से आखीर तक समन्वय का काव्य है। इस महान् समन्वय के प्रयत्न का आधार उन्होंने रामचरित को चुना। वस्तुतः इससे सुन्दर चुनाव हो नहीं सकता। कुछ पश्चिमी समालोचकों ने कहा है कि कविता अच्छी करना चाहते हो तो विषय अच्छा चुनो। राम-नाम का प्रचार उन दिनों बड़े जोरों पर था। निर्गुण भाव से भजन करने वाले भक्तों ने इसी नाम को अपनाया था। लोक में इस शब्द की महिमा प्रतिष्ठित हो चुकी थी। तुलसीदास के लिए काम इतना ही बाकी था कि लोकगृहीत इस नाम का मर्यादा पुरुष के चरित्र से संबंध कर दिया जाय। कृष्ण-भक्ति खूब प्रचलित थी, पर तुलसी मन-ही मन मधुर भाव की उपासना पर झुंझलाए हुए थे। वे इसके विरुद्ध तो कुछ कह नहीं सकते, क्योंकि यह 'हरि-भक्ति-पंथ' था और उनके उद्भा-

वित पन्थ से कम 'श्रुतिसम्मत' न था पर उन्होंने भक्ति का प्रसंग आते ही दास्यभाव की भक्ति को श्रेष्ठ कहकर अप्रत्यक्ष रूप में मधुर भाव का प्रत्याख्यान कर दिया। निर्गुणियों पर भी वे उसी तरह झुंझलाए हुए थे, पर यह पंथ भी 'श्रुतिसम्मत' था इसलिए इसके विरुद्ध बोलने में भी उनका मुँह बन्द था, इसीलिए वे इसे मानकर भी नहीं मानना चाहते थे। प्रसंग आते ही वे राम के सगुण रूप पर जोर देते हैं, कथा में कहीं किसी भक्त से भगवान की भेंट हो गई तो चट उसने वरदान में माँगा 'हे राम, तुम्हारा यह सगुण रूप ही मेरे मन में बसे, निर्गुण नहीं।' इसी तरह उच्च वर्ण होने के कारण स्वभावतः ही उसी युग के तथाकथित 'वर्णधर्मों' की वढ़-वढ़कर की हुई बातें उन्हें बुरी लगती थीं, पर कथा-प्रसंग में सर्वत्र उनकी महिमा गाई है; हाँ, अवश्य ही इस बात के लिए उनमें भक्ति का होना आवश्यक माना गया है। इस समस्या का उन्होंने यही समन्वय किया है कि अगर छोटी जाति का आदमी भक्त हो तो वह मुहूर्त भर में ऊँची जाति के भक्तों से ऊपर जाता है, 'भरत सम भाई' हो जाता है। उनके राम अधम-उधारन हैं, जो हठपूर्वक अधमों का उद्धार करते हैं। यह ध्यान देने की वात है कि तुलसीदास ने रूप की अपेक्षा नाम को श्रेष्ठ बताया है, यहाँ तक कि 'ब्रह्म राम तें नाम बड़' है। अर्थात् निर्गुण भाव से भजन किया हो या सगुण भाव से, नाम की महिमा में कोई सन्देह नहीं। इस सिद्धान्त के द्वारा उन्होंने सहज ही अपने विरुद्ध-वादियों को भी अपनी श्रेणी में लिया है।

समन्वय का मतलव है कुछ झुकना और कुछ दूसरों को झुकने के लिए वाध्य करना। तुलसीदास को ऐसा करना पड़ा है। यह करने के लिए जिस असामान्य दक्षता की जरूरत थी वह उनमें थी। फिर भी झुकना-झुकना ही है। यही कारण है कि

'रामचरित मानस' के कथा-काव्य की दृष्टि से अनुपमेय होने पर भी उसके प्रवाह में बाधा पड़ी है। अगर वह विशुद्ध कविता की दृष्टि से लिखा जाता, तो कुछ और ही हुआ होता। यहाँ दार्शनिक मत की विवेचना है, तो वहाँ भक्ति तत्व की व्याख्या। फिर भी अपनी असामान्य दक्षता के कारण तुलसीदास ने इस बाधा को यथासम्भव कम किया है। अपने प्रयत्न में वे इतने अधिक सफल हुये हैं कि भावुक समालोचक को उसमें कोई दोष ही नहीं दिखाई देता। कथा का झुकाव इतनी मार्मिकता के साथ पहचाना गया गया है कि यह बात आदमी प्रायः भूल जाता है कि 'रामचरित मानस' का लक्ष्य केवल कथा ही नहीं, और कुछ भी है। शुष्क तत्वज्ञान तुलसीदास को कभी प्रिय नहीं हुआ। जब कभी उसकी चर्चा वे करते हैं कवि की भाषा में। उपमाओं और रूपकों के प्रयोग से विषय अत्यन्त साफ हो जाता है और जहाँ कविता करने के लिये तुलसीदास कवि की भाषा का प्रयोग करते हैं, वहाँ वे अद्वितीय नजर आते हैं।

चरित्र-चित्रण में तुलसीदास अतुलनीय हैं। उनके सभी पात्र हाड़-माँस के बने हमारे ही जैसे जीव हैं। उनमें जो अलौकिकता है वह भी मधुर और समझ में आने लायक है। उनके पात्रों के प्रत्येक आचरण में कोई न कोई विशेष लक्ष्य होता है। मानव-जीवन के किसी न किसी अङ्ग पर उनसे प्रकाश पड़ता है या किसी न किसी सामाजिक वा वैयक्तिक दोष की तीव्र आलोचना व्यक्त होती है, या मानव-मानव में सद्भावना की पुष्टि की ओर इशारा रहता है। लीला के लिये लीला-गान उन्होंने कहीं नहीं किया। वे आदर्शवादी थे और अपने काव्य में भावी समाज की सृष्टि कर रहे थे। वे उस देश में पैदा हुये थे जहाँ कल्पना की जा सकती है कि राम के

जन्म के साठ हजार वर्ष पहले रामायण-काव्य लिखा गया (ब्रह्म वैवर्त पुराण में), अर्थात् जहाँ कवि भविष्य का द्रष्टा और स्रष्टा समझा जाता है। तुलसीदास ऐसे ही भविष्य स्रष्टा थे। आज तीन सौ वर्ष बाद इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह सकता कि उन्होंने भावी समाज की सृष्टि सचमुच की थी। आज का उत्तर भारत तुलसीदास का रचा हुआ है। वही इसके मेरु-दण्ड हैं।

भाषा की दृष्टि से भी तुलसीदास की तुलना हिन्दी के किसी अन्य कवि से नहीं हो सकती। जैसा कि पहले ही बताया गया है, उनकी भाषा में भी एक समन्वय की चेष्टा है। तुलसीदास की भाषा जितनी ही लौकिक है उतनी ही शास्त्रीय। संस्कृत का मिश्रण बड़ी चतुरता के साथ किया गया है। जहाँ जैसा विषय होता है, भाषा आप उसके अनुकूल हो जाती है। तुलसी-दास के पहले किसी ने इतनी मार्जित भाषा का उपयोग नहीं किया था। काव्योपयोगी भाषा लिखने में तो तुलसीदास कमाल करते हैं। उनकी 'विनय-पत्रिका' में भाषा का जैसा जोरदार प्रवाह है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। जहाँ भाषा साधारण और लौकिक होती है, वहाँ तुलसीदास की उक्तियाँ तीर की तरह सीधे चुभ जाती हैं और जहाँ शास्त्रीय और गम्भीर होती है, वहाँ पाठक का मन चील की तरह मंडरा कर प्रतिपाद्य सिद्धान्त को ग्रहण कर उड़ जाता है।

मानव-प्रकृति का ज्ञान तुलसीदास से अधिक उस युग में किसी को नहीं था। यह एक आश्चर्य की बात है कि उन्होंने विश्व-प्रकृति को अपने काव्य में कोई स्थान नहीं दिया। इसमें सन्देह नहीं कि जहाँ-कहीं उन्होंने थोड़ी-सी चर्चा की है वहीं उसमें कमाल किया है, पर असल में वे इससे उदासीन रहे। जो भावुक सहृदय पद-पद पर फूल-पत्तियों को देखकर मुग्ध

हो जाता है, नदी-पहाड़ को देखकर तन-मन विसार देता है, वह तुलसीदास के काव्य का लक्ष्यभूत श्रोता नहीं है। तुलसीदास प्रकृत्या भावुकता को पसन्द नहीं करते थे।

एक ही जगह उनकी भावुकता 'पुलक-गात' और 'लोचन सजल' के रूप में प्रकट होती है और वह भगवान् के 'करुणा-यतन' या 'मोहन मयन' रूप को देखकर। इससे भी अजीव बात यह है कि उनकी उपमाओं, रूपकों और उत्प्रेक्षाओं में कहीं-कहीं काव्यगत रूढ़ियों का बुरी तरह पालन किया गया है। उनके जैसे प्रतिभाशाली कवि के लिए जो इच्छा करते ही नई-नई उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं का ढेर लगा सकता था, जो इस गुण में अतुल-नीय था, यह वात एक अजीव-सी लगती है। शायद इस वात का भी समाधान उनकी समन्वयात्मिका प्रतिभा के द्वारा ही किया जा सकता है, जो नवीनता के साथ-साथ प्राचीनता का सामञ्जस्य-विधान करती थी।

तुलसीदास कवि थे, भक्त थे, पंडित थे, सुधारक थे, लोक-नायक थे और भविष्य के स्रष्टा थे, इन रूपों में उनका कोई भी रूप किसी से घट कर नहीं था। यही कारण था कि उन्होंने सब ओर से समता (balance) की रक्षा करते हुए एक अद्वितीय काव्य की सृष्टि की, जो अब तक उत्तर भारत का मार्ग-दर्शक रहा है और उस दिन भी रहेगा जिस दिन नवीन भारत का जन्म हो गया होगा।

अभ्यास के लिये

१—तुलसीदास के जन्म के समय में हिन्दू समाज की कैसी अवस्था थी ?

२—समन्वय से आप क्या समझते हैं ? भारतवर्ष का लोकनायक वही क्यों हो सकता है जिसमें समन्वय करने की क्षमता हो ?

३—तुलसीदास जी ने अपनी प्रतिभा से किस-किस क्षेत्र में कैसा समन्वय उपस्थित किया ?

४—तुलसीदास के चरित्र-चित्रण एवं भाषा की मुख्य विशेषतायें बतलाइये।

५—तुलसीदास हमारे समक्ष किन-किन रूपों में दिखलाई पड़ते हैं ?

६—पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना एवं भाषा-शैली पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

२०—परिश्रांत पथिक

[लेखक—श्री 'वियोगी हरि']

श्री वियोगी हरि का जन्म सं० १९५३ वि० में छतरपुर रियासत में हुआ था। आपका वास्तविक नाम हरिप्रसाद द्विवेदी है, किन्तु आप अपने उपनाम से ही अधिक प्रसिद्ध हैं। आपके जीवन का अधिकांश भाग लोक-सेवा में ही बीता है। अछूतों के आन्दोलनों में आपने बड़ी दिलचस्पी से भाग लिया है और हरिजन-आश्रम दिल्ली में रहकर इस सम्बन्ध में ठोस कार्य किया है। हिन्दी-प्रचार के लिए भी आपने अधिक परिश्रम किया है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कराची अधिवेशन में आपको सभापति चुनकर हिन्दी जगत ने आपको सम्मानित किया है।

वियोगी हरि जी बड़े ही सरस, भावुक भक्त एवं श्रेष्ठ गीतकार हैं। व्रज-भाषा और व्रज-साहित्य पर आपको विशेष ममता है। 'भक्तों की भजनावली', 'व्रज माधुरी सार' आपके संकलन हैं। 'वीर सतसई' पर आपको 'मंगला प्रसाद' पारितोषिक भी प्राप्त हो चुका है।

हिन्दी गद्य गीतकारों में हरि जी का स्थान बहुत ऊँचा है। आपके गद्य-गीत भक्ति के उद्गार से ओत-प्रोत हैं। आपकी भाषा विषयों के

अनुसार परिवर्तित होती है, किन्तु आपका व्यक्तित्व सर्वत्र प्रतिबिम्बित होता रहता है। आपकी शैली में जहाँ एक ओर पांडित्य-दर्शन, अलंकार योजना एवं दीर्घ समासों की छटा है, वहाँ दूसरी ओर हृदय के भावों को व्यक्त करने के लिए घरेलू भाषा की मिठास भी है। भावावेश की अवस्था में आपकी भाषा सरल एवं भाव पूर्ण होती है; वाक्य खरे, छोटे और शब्द बोल-चाल के होते हैं। आपने भाषा को सरल और चपल बनाने के लिए यत्र-तत्र उर्दू शब्दों और मुहावरों का भी प्रयोग किया है। भावानुभूति में सच्चाई होने के कारण आपकी शैली में ओज, प्रभाव और बल विद्यमान रहता है। आपके भावमय गद्यगीत व्यंग्यपूर्ण और अन्योक्तिमय होते हैं। 'अंतर्नाद', 'प्रेम योग', 'साहित्य विहार' आदि आपके प्रमुख गद्य काव्य संग्रह हैं।

प्रस्तुत पाठ आपके गद्य काव्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

"अरे भैया घड़ी भर विश्राम तो कर ले। इस पेड़ की डाल पर अपनी पोटली टाँग दे और बैठकर दो घूँट ठंडा पानी पी ले। कहाँ से आ रहा है, भैया ? पसीने से लथ-पथ हो रहा है। साँस पेट में नहीं समाती। पैर सूज गये हैं। कलेजा भूख के मारे मुँह को आ रहा है। अभी और कहाँ तक जाना है, भाई ?"

"क्या पूछते हो ! कुछ पता नहीं कहाँ तक जाना है।"

"एं ! यह कैसी बात ? कुछ पता नहीं ?"

"हाँ ! भाई, कुछ पता नहीं चलते-चलते न जाने कितने दिन हो गये, पर अभी तक मुझे यह मालूम नहीं कि मैं किधर जा रहा हूँ ? अनेक नगर, गाँव, खेड़े, नदी, नाले, पहाड़, टीले, जङ्गल पार करके जब मैं आगे नजर फेंकता हूँ, तब अनन्त क्षितिज रेखा त्यों की त्यों ही दिखाई देती है। कभी-कभी तो मैं जहाँ से चलता हूँ वहीं फिर घूम-घाम कर आ पहुँचता हूँ। कोई मुझे मेरा पता

भी तो ठीक-ठीक नहीं बतलाता। सङ्गी-साथी भी अब तक कोई मन का नहीं मिला। गठरी के बोझ के मारे गर्दन झुक गई है, सिर फटा जाता है। टेकने की लाठी भी गिर-गिर जाती है, बड़ी आफत है। क्या करूँ—क्या न करूँ ?"

"इस पोटली में क्या-क्या है ?"

"सुनकर हँसोगे। सिवा कंकड़-पत्थर के रखा ही क्या है ?"

"तो फेंक क्यों नहीं देते ?"

"कैसे फेंक दूँ ? लालच बुरी बला है। लोग कहते हैं कि एक दिन यही कंकड़-पत्थर हीरे-मोती हो जायँगे। राम जाने उनकी इस भविष्यवाणी में कहाँ तक तथ्य है ?"

"तो क्या तुम इन्हीं हीरे-मोतियों की टोह में बावले बने घूम रहे हो ? अजीब आदमी हो ! इन कंकड़-पत्थरों को फेंक-फाँक कर उस सच्चे हीरे की खोज क्यों नहीं करते, जिसे पाकर तुम्हारी सारी यात्रा सफल हो जायगी ?"

"तेरा हीरा हेराइगा कचरे में"—यह विराग भरी स्वरावली कहीं से प्रताड़ित हो, हम लोगों के कानों में गूँजने लगी।

पथिक ने उस गान को सुनकर पूछा—

"क्यों भाई ! तुम मुझसे इसी हीरे के खोजने के लिए कहते थे ? यह हीरा कहाँ मिलेगा ?"

"तुम्हारी इसी फटी-पुरानी गुदड़ी में कहीं छिपा होगा। उसके लिए तुम्हें पूरब-पश्चिम न भटकना पड़ेगा। आह ! हीरे की दमक हजारों सूर्य और चन्द्र के प्रकाश से कहीं बढ़कर है। उसका जौहर हर एक नहीं जानता। लाख क्या, करोड़ में कहीं एक जौहरी मिलेगा।"

"इसी फटी-पुरानी गुदड़ी में ! फिर दिखाई क्यों नहीं देता ?"

"धूल-भरा है न।"

"फिर कैसे दिखाई देगा ?"

"दृष्टि निर्मल करो। दिव्य दृष्टि से उसका दर्शन होगा। दिव्य दृष्टि का अंजन तुम्हें इस वृक्ष के नीचे ही मिल जायगा। धीरज धरो, पथिक! बहुत भटक चुके, अब चलने-फिरने की जरूरत नहीं! तुम चाहोगे तो वह हीरा इसी क्षण मिल जायगा।"

पथिक की आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी और उसकी सफेद दाढ़ी पर से मोती-जैसी बूँद टपक पड़ी।

अभ्यास के लिये

१—परिश्रांत पथिक का भावार्थ स्पष्ट कीजिये।

२—इस पाठ से आपको क्या शिक्षा प्राप्त होती है?

३—परिश्रांत पथिक, कंकर-पत्थर, फटी-पुरानी गुदड़ी और हीरा आदि का आध्यात्मिक तात्पर्य क्या है?

४—वियोगी हरि का संक्षेप में परिचय दीजिये और उनकी भाषाशैली पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

परिशिष्ट

टिप्पणी

१—वन्देमातरम्

प्रस्तुत पाठ में वन्देमातरम् गीत की विशेषता बड़े कौशल के साथ बतलाई गई है। काका कालेलकर जी ने देशप्रेम के साथ ही साथ मातृप्रेम का संदेश भी इसमें निहित कर दिया है।

पंचायतन—पाँच देवताओं के सम्बन्ध में। माताजी—माता दुर्गा। स्तोत्र—किसी देवता का छन्दोबद्ध स्वरूप-कथन या गुण-कीर्तन। स्वदेशी की हलचल—स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग से चलाया गया आन्दोलन; विदेशी वस्तुओं का वहिष्कार। महिषासुरमर्दिनी—एक असुर जो रंभ नामक दैत्य का पुत्र था। इसकी आकृति भैंसे के समान थी। देवी दुर्गा ने इसका वध किया था। कर—टेक्स, महसूल। जाह्नवी-यमुना-विगलित करुणा-पुण्य-पीयूष—गंगा और यमुना के संगम से बहा हुआ दयारूपी पवित्र अमृत। वरदहस्त—कृपा का हाथ। सहोदर—सगे भाई।

२—शिक्षा

इस लेख में माननीय सम्पूर्णानन्द जी ने नागरिकता की दृष्टि से शिक्षा की आवश्यकता एवं उसकी उपयुक्तता पर सुन्दर प्रकाश डाला है।

सम्यक—पूर्णरीति से; भलीभाँति। दायित्व—जिम्मेदारी। स्पर्धा—होड़। बहुज्ञ—अनेक विषयों का ज्ञान। आत्मसाक्षात्कार—अपने आपको समझना। लांछन—दोष, कलंक। ब्रह्मवेत्ता—ब्रह्मज्ञानी। लोकसंग्रहरत—लोक कल्याण में लगे हुए। परार्थ—परोप-

कार। अन्तरराष्ट्रीय—(अन्तर्राष्ट्रीय) विभिन्न राष्ट्र सम्बन्धी। नानात्व-की—अनेक प्रकार की। पार्थक्य—भिन्न भिन्न।

३—परीक्षा

इस लेख में मिश्र जी ने व्यंग्य एवं हास्य द्वारा परीक्षा का सुन्दर चित्र खींचा है।

खोट—खराबी। आडम्बर—दिखावा। भरमालः—गुप्त बात, छिपी हुई।

४—चारु-चरित

पंडित बालकृष्ण भट्ट ने इस लेख में चरित्र की महत्ता पर प्रकाश डाला है। उनकी सम्मति में सच्चरित्र होना नितांत आवश्यक है। सच्चरित्र मनुष्य का सब कहीं सम्मान होता है। वह निर्धन होने पर भी चरित्रहीन श्रीमान् से कहीं अधिक आदरणीय है।

नबी—ईश्वर का दूत। अंबिया—नबी का बहुवचन। औलिया—सिद्ध। गुरोगुरुः—गुरु का भी गुरु। अभिजात्य - कुलीनता। उत्कोच—घूस। अनुष्ठान—आचरण। सूत्र—मूलमन्त्र, माप। अपि च—और। अक्षीणो वित्ततःक्षीणःवृत्ततस्तु हतोहतः—धनहीन व्यक्ति तो केवल क्षीण ही है, परन्तु चरित्रहीन तो मृत है। जीवमुक्त—परम ज्ञानी। प्रवण चित्त—दत्तचित्त।

५—क्षमा

इस कहानी द्वारा प्रेमचन्द जी ने साम्प्रदायिक भेदभाव एवं धार्मिक कट्टरपन को अवांच्छित ठहरा कर दया एवं क्षमा को सर्वोच्च आदर्श सिद्ध किया है।

कलीसाओं—ईसाइयों का गिर्जाघर। गरनाता—स्पेन का एक शहर, यह शहर स्पेन के मुसलमान शासकों की राजधानी थी। अलहमरा—एक शहर का नाम। आवायें—वस्त्रविशेष। अमामें—पगड़ी। अतीतकाल—बीते हुए समय की। आक्षेप—निंदा, तांना। अविच-

लित—स्थिर। उन्मत्त—पागल। तौहीन—अपमान। अरमान निकाल लो—इच्छा पूरी कर लो। एक कावा—एक चक्कर। जिच—मात देना, हराना। अदम्य—अटल। आभा—चमक। द्वन्द्व—हलचल। अवरुद्धकंठ से—भरे हुये गले से। रसूलपाक—पवित्र पैगम्बर। आकवत—अन्त। समाजात—प्रार्थना। दीन—मजहब। असाध्य—कठिन। रौद्ररूप - विकराल या डरावना स्वरूप।

६—वीरत्व

मिश्रबन्धुओं का यह एक सुन्दर मनोवैज्ञानिक लेख है जिसमें वीरत्व का महत्व, उसका मूल आधार एवं तत्सम्बन्धी वांछनीय गुणादि की विशद-चर्चा की गई है।

स्थायी भाव—जो भाव रस का आस्वादन होने तक मन में ठहरे रहते हैं और उसे निमग्न कर डालते हैं—वे स्थायीभाव कहलाते हैं। स्थायीभाव नौ प्रकार के माने गये हैं—रति, हास, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय, शोक और निर्वेद। कुछ आचार्य 'वात्सल्य' को दसवाँ स्थायीभाव मानते हैं। उदधिउल्लंघन—सीता जी की खोज में हनुमान जी समुद्र लाँघकर लंका पहुँचे थे। यहाँ पर इसी से अभिप्राय है। द्रोणाचल आनयन—मूर्छित लक्ष्मण के लिये हनुमान जी संजीवनी बूटी का पहाड़ उठा लाये थे।

भवभूति और महावीर चरित्र—भवभूति—'संस्कृत साहित्य के एक महाकवि और उत्कृष्ट नाट्यकार हैं। इनके 'उत्तर रामचरित, 'मालती माधव' और 'महावीर चरित'—नामक तीन नाटक अत्यन्त प्रसिद्ध एवं उच्चकोटि के हैं। इन तीनों नाटकों का हिन्दी में भी अनुवाद हो चुका है।

श्लाघ्य—प्रशंसनीय। वीरभोग्या वसुन्धरा—वीर पुरुष ही पृथ्वी का भोग करते हैं।

७—अँगूठी

प्रस्तुत पाठ श्रीमती चन्द्रावती त्रिपाठी का एक अत्यन्त विचारपूर्ण

एवं सरल लेख है। इसमें उन्होंने अँगूठी के सार्वजनिक उपयोग एवं उसके महत्व पर बड़ी कुशलता के साथ प्रकाश डाला है।

कालिदास और शकुन्तला—संस्कृत के महाकवि नाटककार कालिदास-कृत सुप्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' (शकुन्तला) है। इसमें कण्व ऋषि द्वारा पालित विश्वामित्र की पुत्री शकुन्तला एवं महाराज दुष्यन्त के गन्धर्व-विवाह की कथा है। दुष्यन्त कण्व के आश्रम से लौटने पर शाप के कारण शकुन्तला को भूल जाता है और वह उसे त्याग देता है। बाद में अंगूठी देखकर फिर उसे सारी घटना याद आ जाती है और वह शकुन्तला को पुनः प्राप्त कर लेता है।

विशाखदत्त और मुद्राराक्षस—संस्कृत नाटककार विशाखदत्त का लिखा हुआ 'मुद्राराक्षस' एक राजनैतिक नाटक है। इसमें राजा नन्द के मन्त्री राक्षस एवं चन्द्रगुप्त मौर्य के सहायक चाणक्य की कूटनीति का चित्रण है। चाणक्य राक्षस नामांकित अंगूठी पाकर एक जाली आदेश-पत्र बनाता है और उसी के द्वारा चन्द्रगुप्त को राजा बनाता है और राक्षस को उसका मन्त्री बनने को विवश करता है। हिन्दी में इसका अनुवाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया है।

आदान-प्रदान—अदला-बदली।

बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय—बंगला भाषा के एक सुप्रसिद्ध उपन्यास-कार और निबन्ध-लेखक।

८—बीज की बात

राय कृष्णदास के 'सुधांशु' से उद्धृत 'बीज की बात' एक आत्म-कथा के रूप में गद्य काव्य है। इसमें बीज के उन प्रयत्नों का चित्रण है जो उसने कृषकों से बदला लेने की भावना से प्रेरित हो किये हैं। लेखक हमें यह शिक्षा देता है कि यदि मनुष्य साहसी, उद्यमी, बुद्धिमान और पराक्रमी है तो वह बड़े से बड़ा काम कर सकता है।

स्वयंरुह—वनस्पति वंश । जकात—राजकर । भूमिपाल—जमींदार । प्रतिहिंसा—बदला । कृतान्त—यम । बड़वा—घोड़ा । तीसरे के पास बन्धक रखकर—तीसरे का कथन मान कर । सोंधी उसांस ली—पृथ्वी से सोंधी गन्ध उठने लगी । खल्वाट—तृण रहित । कुन्तल—बाल । पयोदान—दूध या पानी का दान । प्रतिक्रिया—रोकने का उपाय । कासनी—हलका बादामी । एकोऽहं बहुस्याम—एक मैं बहुत बन जाऊँ । षटेते आदि श्लोक का अनुवाद—जहाँ उद्यम, साहस, धैर्य, बुद्धि, शक्ति और पराक्रम, ये छः गुण हैं वहाँ देवता भी सहायता करते हैं ।

६—भगवान् श्रीकृष्ण

स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह शर्मा ने इस लेख में श्रीकृष्ण के पावन-चरित्र पर सम्यक् प्रकाश डाला है ।

धराधाम—पृथ्वी । प्रभाती—प्रातःकाल का गीत । विभूति—महान पुरुष । घनश्याम—श्रीकृष्ण, काला बादल । यदा यदाहि—गीता में भगवान का सिद्ध वाक्य—जब जब धर्म की हानि होती है तब-तब मैं अवतार लेता हूँ । मर्सिया—शोक गीत । विडम्बना—उपहास, प्रतिकूलता । विहाग—एक गान विशेष । कर्मयोगी—लोक कल्याण के लिए काम करने वाला व्यक्ति । उद्योगपर्व—महाभारत का एक विभाग । दुरभिसन्धि—षडयंत्र । प्रत्याख्यान—अपमान जनक उत्तर । लोक-संग्रह का तत्व—वे बातें जिनपर संसार का कल्याण आश्रित है । कर्तव्य पराङ्गमुख—कर्त्तव्य से हट जाने वाला ।

१०—आत्मसंस्कार और संगति

शुक्ल जी का यह एक विचारात्मक निबन्ध है । आत्मसंस्कार के लिए युवा पुरुषों को क्या करना चाहिये और किस प्रकार की संगति रखना चाहिये—इन बातों का इसमें बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है ।

आत्मसंस्कार—आत्मसुधार, अपने आपको सुधारना ।

वाजिद् अली—अवध का अंतिम नवाब जो अत्यन्त विलासी था।

बेकन—महारानी एलीजबेथ का समकालीन एक दार्शनिक राज-नीतिज्ञ एवं निबंधकार।

सात्विकता—भले काम की ओर ले जाने वाली सद्प्रवृत्ति।

मकदूनिया और डेमेट्रियेस—प्राचीन यूनान का एक प्रांत विशेष, जहाँ सम्राट् सिकन्दर राज्य करता था। इसी को मेसिडोनिया भी कहते हैं। वहीं का एक सुप्रसिद्ध राजा था।

११—सच्ची शांति

सच्ची शांति सुदर्शन जी की सर्वोत्कृष्ट कहानियों में से एक है, जिसमें लेखक ने यह बतलाने की चेष्टा की है कि मनुष्य को कर्त्तव्य-पराङ्मुख होने से सच्ची शान्ति नहीं मिल सकती। सच्ची शान्ति प्राप्त करने के लिए कर्त्तव्य-परायण होना अत्यन्त आवश्यक है।

सुनी अनसुनी करना—ध्यान न देना, परवाह न करना। अपने रंग में मस्त रहना—मनमौजी होना। विसूचिका—हैजा। स्नेहरज्जु—प्रेम की डोरी। रंग में भंग—आनन्द में बाधा। उत्तरदायित्व—जवाबदेही, जिम्मेदारी।

१२—हंस का नीर-क्षीर-विवेक

इस पाठ में आचार्य द्विवेदी जी ने अनेक प्रचलित प्रकारों में से नीर-क्षीर-विवेक सम्बन्धी मिथ्या धारणा पर विचार प्रकट किये हैं। हंस का नीर-क्षीर-विवेक किस दृष्टि से सत्य है—इसकी सप्रमाण मीमांसा भी की है।

प्रवाद—मिथ्या धारणा। सायनाचार्य—एक टीकाकार ऋषि। जलरुह—जल में उत्पन्न होने वाले पौधे, कमल आदि। मृणालदंड—कमल की डंडी। विसतंतु—कमल नाल के तोड़ने से जो सफेद-सफेद सूत-सी एक चीज निकलती है। प्रवाही—द्रुतप्रवाहित होने वाला। द्विज—ब्राह्मण, पक्षी। शुक्तियाँ—सीपें।

१३—पेनिसिलिन

इस पाठ में श्री भगवतीप्रसाद जी ने पेनिसिलिन का आविष्कार और उसकी उपयोगिता आदि का सविस्तार वर्णन किया है।

सर्वोपरि—सबसे श्रेष्ठ। टेस्टट्यूब—शीशे की एक पतली नली जिसमें पदार्थ रख कर निरीक्षण किये जाते हैं। मित्रराष्ट्र—रूस, इंगलैण्ड और अमेरिका, चीन आदि। राज्य-यक्ष्मा—तपेदिक। विक्षत—घायल।

१४—प्रताप-प्रतिज्ञा

इस नाटकीय अवतरण में मिलिन्द जी ने राणा प्रताप की वीरता पर प्रकाश डाला है।

कसक—पीड़ा। बाप्पा रावल—मेवाड़ राज्य का संस्थापक, गुह का वंशज। यह बड़ा प्रतापी था। कुछ लोग इसे ही मेवाड़ राज्य का संस्थापक मानते हैं।

स्वर्ण-ऊषा—स्वर्ण से रंगवाली। रक्त ध्वजा—लाल झंडा। भवानी - तलवार के प्रति सम्बोधन। जनता जनार्दन—जनता रूपी भगवान्। लाल दिन—रक्तमय और वैभवशाली। मार्ग—साधन।

१५—साहित्य और सामाजिक स्थिति

डा० श्यामसुन्दर दास ने इस पाठ में साहित्य की समाज के लिये उपयोगिता एवं उसकी शक्ति आदि पर सुन्दर प्रकाश डाला है।

प्रतिरूप—नकल। मनोविकार—मानसिक परिवर्तन। स्फूर्ति—फुर्ती; तेजी। शृङ्खला—पंक्ति, श्रेणी। क्रियमाण—कार्य में लगा हुआ। प्रकाण्ड—बहुत बड़ा। उर्वरा—उपजाऊ। सूत्रपात—आरम्भ। निर्मूल—निरर्थक। परिष्कार—शुद्ध करना।

१६—विश्व कवि रवीन्द्र

प्रस्तुत निबन्ध में श्रीगुलाबराय जी ने विश्व कवि रवीन्द्र के जीवन चरित्र का उल्लेख किया है। रवीन्द्र बाबू दिवंगत हो चुके हैं, पर यह निबन्ध उनके जीवनकाल में ही लिखा गया था।

प्रवीणता—चतुरता, कुशलता। एकेश्वरवाद—मुसलमानी पैगम्बरवाद एवं भारतीय अद्वैतवाद से मिलता-जुलता एक मत विशेष जिसके अनुसार ईश्वर एक है। साम्यवाद—एक वाद विशेष; जिसमें समाज के प्रत्येक व्यक्ति के अधिकारों की समानता का प्रतिपादन किया जाता है। आधुनिक युग में इसके अनुयायी रूसी लोग हैं। नौकरशाही—जहाँ नौकरों ही की देख-रेख पर कार्य चलता हो। विहाग राग—एक राग विशेष, जो रात्रि में गाया जाता है। शान्तिनिकेतन—बोलपुर में स्थित एक स्थान विशेष जहाँ विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'विश्व-भारती' की स्थापना की है। नोबुल पुरस्कार—इसके संस्थापक अल्फ्रेड बर्नहार्ड नोबुल नामक एक स्वीडिश सज्जन थे। ये प्रसिद्ध रासायनिक थे। इन्होंने ५० लाख पौंड की रकम साहित्य आदि पाँच भिन्न-भिन्न पुरस्कारों की स्थापना के निमित्त अर्पण कर दी थी। प्रतिवर्ष ये पुरस्कार संसार के सर्वोत्तम नियत विषयों के लेखकों को प्रदान किये जाते हैं। रूडियर्ड किपलिंग—इंगलैण्ड का एक प्रसिद्ध आधुनिक राष्ट्रीय कवि, नोबुल पुरस्कार विजेता। आध्यात्मिकता—आत्मज्ञान प्राप्त करने की ओर मन का झुकाव।

१७—मधूलिका

स्वर्गीय जयशङ्कर प्रसाद कृत यह एक सर्वोत्कृष्ट कहानी है। इस कहानी द्वारा प्रसाद जी ने राष्ट्रीयता की भावना को दृढ़ किया है और 'मधूलिका' के पावन चरित्र में प्रेम एवं राष्ट्रीयता के अन्तर्द्वन्द्व बड़ी ही कुशलता से चित्रित किया है।

आर्द्रा नक्षत्र—२७ नक्षत्रों में से एक नक्षत्र का नाम। निरभ्र—बादल रहित। अनुरंजित—रंगा हुआ। स्वस्त्ययन—शुभाशीर्वाद। कौशेयवसन—रेशमी वस्त्र। ऊर्जस्वित—तेजोमयी। मधूक—महुआ। नगर तोरण—नगर का बाहरी फाटक। अवगुंठन—पर्दा। सामंजस्य—उपयुक्तता, अनुकूलता। विडम्बना—तिरस्कार, मजाक।

रन्ध्रों—छेदों। विपन्न—दुखी। मुकुलित—अधखुली। प्रकोष्ठ—कक्ष, कोठरी। अभियान—यात्रा। अतिरञ्जित हो गया—अत्यन्त प्रकाशित हो गया। उल्काधारी—मशालची। वल्गा—लगाम।

१८—बदरीनाथ की यात्रा

यह श्रीमती महादेवी वर्मा का एक यात्रा सम्बन्धी लेख है जिसमें बदरीनाथ-यात्रा के मार्ग में जो प्राकृतिक दृश्य हैं उनका और बदरीनाथ के इर्द-गिर्द बने हुए मंदिरों का मार्मिक चित्रण है।

दुर्गम—कठिन। संभ्रांत—माननीय, प्रतिष्ठित। संकीर्ण—तंग। उत्तुङ्ग—ऊँचे। विषएण—उदासीन।

१९—लोकनायक तुलसीदास

प्रस्तुत पाठ पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी की पुस्तक 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' से उद्धृत किया गया है। इसमें लेखक ने यह सिद्ध किया है कि तुलसीदास जी की सबसे बड़ी विशेषता उनकी समन्वयवाद की प्रवृत्ति है और इस दृष्टि से राम-कृष्ण के सदृश वे भी हमारे जनसमाज के एक सुन्दर लोकनायक हैं।

डाक्टर ग्रियर्सन—एक प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् एवं भाषा-विज्ञान-वेत्ता हैं। इन्होंने हिन्दी भाषा और साहित्य सम्बन्धी अनेक अमूल्य लेख लिखे हैं। 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया' नामक इनका खोजपूर्ण ग्रंथ अत्यन्त प्रसिद्ध एवं उपयोगी है। उच्चस्तर—ऊँची श्रेणी। अलख—जो देखा न जा सके, कबीर प्रभृति निर्गुण सन्तों का ईश्वर का नाम। दुर्वह—जो ढोया न जा सके, अर्थात् जिसको लेकर चलना कठिन हो। विशृंखल—व्यवस्था रहित। विच्छिन्न—तितर-बितर। दूर विभ्रष्ट—दूर जाकर गिरे हुये। दिग्गज पण्डितों—बड़े विद्वान पंडितों। समन्वय—सामंजस्य, उपयुक्त परिमाण में सम्मिश्रण। उद्भावित—आविष्कृत। प्रत्याख्यान—प्रतिवाद। वैयक्तिक—एक मनुष्य से सम्बन्ध रखने वाला। मेरुदंड—पीठ की हड्डी, प्रधान केन्द्र।

२०—परिश्रान्त पथिक

प्रस्तुत अवतरण वियोगी हरि का एक सुन्दर गद्य काव्य है। यह एक सुन्दर आध्यात्मिक अन्योक्ति है जिसमें लौकिक वस्तुओं के सहारे अध्यात्म पक्ष का निरूपण बड़ी कुशलता से किया है। जन्म-जन्मांतर के चक्कर में पड़कर मनुष्य की जीवात्मा परिश्रान्त है, फिर भी वह साँसारिक बोझीली वस्तुओं (कंकड़-पत्थर) के लालच को छोड़ नहीं पाती और अपनी जीर्ण-शीर्ण गुदड़ी (शरीर) में उन्हें संभाल कर बड़ी आशा से रखता है कि इन्हीं वस्तुओं में सार है। मनुष्य यह नहीं समझता कि हीरा (सारवस्तु) को प्राप्त करने के लिये निर्मल दृष्टि की आवश्यकता है। दिव्य दृष्टि से ही ईश्वरीय हीरा पहचाना जाता है।

कचरा—कूड़ा। तथ्य—वास्तविकता। विराग भरी—उदासीन वृत्ति वाली। दिव्य—देवताओं ऐसी, श्रेष्ठ, सात्विक।

निबन्ध मुक्तावली

लेखक श्री व्यथित हृदय

लेकचरर

हिन्दू महिला-विद्यालय इंटर कालिज, प्रयाग

मूल्य २॥)

प्रस्तुत पुस्तक हाई स्कूल और उसके समकक्ष विद्यार्थियों के लिये लिखी गई है। पुस्तक की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :—

- पुस्तक में सभी प्रकार के वर्णनात्मक, विवरणात्मक, विवेचनात्मक, व्याख्यात्मक निबंध हैं।
- प्रत्येक निबंध के पूर्व क्रमानुसार रूपरेखा है। इस से विद्यार्थियों को विषय के ज्ञान की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है।
- पत्र शैली और पत्रात्मक निबंध पर भी कुछ निबंध है।
- निबंध और पत्रों की भाषा सरल साहित्यिक भाषा है।
- विषय प्रायः साधारण है जो प्रायः परीक्षाओं में पूछे जाते हैं।
- निबंध का किस प्रकार आरम्भ और अंत करना चाहिये और निबंध लिखने में क्या-क्या आवश्यक तत्व हैं इस पर परिच्यात्मक संकेत हैं।

यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिये उपयोगी है

प्रकाशक :—

रामनारायण लाल

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

प्रयाग